प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी मंत्री,

माणिकचंद्र दि० जैनग्रंथमालासमिति,

हीराबाग गिरगांव बम्बई ।



मुद्रक—

श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ,

जैनसिद्धांतप्रकाशक (पवित्र) प्रेस,

नं० ८ महेंद्रबोस लेन,

श्यामबाजार कलकत्ता ।

धन्यवाद।

इस अलभ्य ग्रन्थके उद्धार–कार्यमें नजीबाबाद जि० बिजनौरके श्रीमान् साहु गणेशीलालजी आनरेरी मजिस्ट्रेटकी धर्मपत्नी जीने १००) सौ रुपयाकी सहायता देनेकी उदारता दिखलाई है, इसके लिए श्रीमतीजीको अनेक धन्यवाद। अन्य धर्मात्माओंको आपके इस शास्त्रप्रेमका अनुकरण करना चाहिए।

श्रीमतीजीकी ओरसे उक्त सौ रुपयोंके ग्रन्थ असमर्थ विद्वानोंको बिना मूल्य वितरण किये जावेंगे।

निवेदक–मंत्री

युक्त्यनुशासनस्य श्लोकानां

अकाराद्यनुक्रमणिका ।



अ

	पृ०	श्लो०
अतत्स्वभावे	५८	२७
अनर्थिका साधन	४५	१८
अनात्मनानात्म	१५०	५८
अनुक्ततुल्यं	१००	४२
अभावमात्रं	५२	१५
अभेदभेदात्मक	२१	२७
अमेयमश्लिष्ट	१३७	५५
अर्थः प्रकरणं लिंगः	१०२	+
अवाच्यमित्यत्र	६१	२९
अशासदाञ्जांसि	४८	२१
अहेतुकत्वं प्रथितः	३३	९

आ

आत्मान्तरा	१३६	५४

इ

इति स्तुत्यः स्तुत्यै	१७८	६५

उ

उपेक्षा फलमाद्यस्य	७	+
उपेयतत्त्वा	६०	२८

ए

एकान्तधर्मा	१३१	५२

क

कथंचित्ते सदेवेष्टं	८९	+
कामं द्विषन्नप्युपपत्ति	१७४	६३
कार्यद्रव्यमनादि	१३८	+
कालः कलिर्वा	१६	५
कालान्तरस्थे	६८	३४
किंचिन्निर्णीत	११६	+
कीर्त्या महत्या	१	१
कृतप्रणाशाकृत	४०	१४

+एतच्चिन्हाङ्किता उक्तं चोक्तश्लोकाः ।

त

तत्त्वं विशुद्धं ४६ । १९
तत्रापूर्वार्थ ८४ । +
तथा न तत्कारण ३८ । १२
तथापि वैयात्य १४ । ३
तथा प्रतिज्ञा १०४ । ४५
तदेतत्तु समायातं १७३ । +
तथासि यातनाः ७५ । +
त्यक्तात्यक्तात्म ७९ । +
त्वं शुद्धिशक्त्यो १४ । ४

द

दयादमत्याग १७ । ६
दृष्टागमा १२२ । ४९
दृष्टे विशिष्टे ७८ । ३६
द्वे सत्ये समुपाश्रित्य ४४ । +

न

न द्रव्यपर्याय ११२ । ४८
न बंधमोक्षौ ४१ । १५
न मांसभक्षणे ८३ । +
न रागान्नः स्तोत्रं १७७ । ६४
न शास्तृशिष्या ४३ । १७
न सच्च नासच्च ६४ । ३२
नानात्मता १२६ । ५०
नानासदेका १४५ । ५६
निशायितस्तैः १५१ । ५९
नैवास्ति हेतुः ३८ । १३

प

प्रतिक्षणं भंगिषु ४२ । १६
प्रत्यक्ष कल्पनापोढं ५ । +
प्रत्यक्षबुद्धिः ४ ', । २२
प्रत्यक्षनिर्देश ६६ । ३३
प्रमाणनयनिर्णीत १ । ×
प्रमुच्यते च १३४ । ५३
प्रवृत्तिरक्तै ८६ । ३८

भ

भवत्यभावेऽपि १५१ । ६०
भावा येन निरुप्यंते १७३ । +
भावेषु नित्येषु २८ । ८
भावैकान्ते पदार्थानां ८६ । +

म

मद्यांगवद्भू ७२ । ३५
ममकाराहंकारौ १३२ । +

मिथोनपेक्षाः १२८ । ५१
मूकात्मसंवेद्य ४७ । २०

य

यदेवकारो ९९ । ४२
याथात्म्यमुल्लंघ्य १३ । २
येषामवक्तव्य ३५ । १०
योलोकाञ्ज्वलय १७४ । +

र

रागाद्यविद्या ५० । २३

व

वस्त्वेवावस्तुतां १०१ । +
व्यतीत्य सामान्य ५४ । २६
व्यावृत्तिहीना १४८ । ५७
विद्या प्रसूत्यै ५० । २४
विधिर्निषेधो १०५ । ४६
विरोधि चा १०२ । ४४
विशेषसामान्य १५३ । ६१

श

शीर्षोपहारादि ८८ । ३९
श्रीमद्वीरजिनेश्वरा १८२ । ×

स

सत्यानृतं वाप्य ६२ । ३०
सर्वान्तवत् १५९ । ६२
सर्वात्मकं तदेकं स्यात् १३९ । +
सर्वथा सदपायानां ११४ । +
सर्वथा सदुपायानां ११४ । +
सहक्रमाद्वा ६३ । ३१
सामान्यनिष्ठा ९४ । ४०
साहंकारे मनसि न १७३ । +
स्तोत्रे युक्त्यनु ८९ । +
स्थेयाज्जातजयध्वजा १८२ । +
स्यादित्यपि १०८ । ४७
स्वच्छन्दवृत्तेः ८१ । ३७

ह

हेतुर्न दृष्टोऽत्र ३६ । ११



श्रीविद्यानन्द स्वामी।



जैनधर्मके दार्शनिक और नैयायिक विद्वानोंमें 'विद्यानन्दि' या 'विद्यानन्द स्वामी' बहुत प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। ये 'पात्र-केसरी' नामसे भी प्रसिद्ध हैं।

इनके विषयमें एक कथा प्रसिद्ध है जिसके अनुसार वे मगधराज्यके अहिच्छत्र नामक नगरके निवासी थे और अपनी पूर्वावस्थामें वेदानुयायी ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्रके 'देवागमस्तोत्र या 'आप्तमीमांसा' नामक ग्रन्थका पाठ करनेसे उन्हें जैनदर्शन पर श्रद्धा हो गई थी और तब वे जैनधर्ममें दीक्षित हो गये थे। मालूम नहीं, इस कथामें सत्यांश कितना है। पर इतना अवश्य है कि विद्यानन्दस्वामीके जीवनका अधिकांश दक्षिण और कर्नाटकमें ही व्यतीत हुआ होगा। उनके सहयोगी अकलंक, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि और प्रतिद्वन्द्वी कुमारिल, मण्डनमिश्र आदि सब कर्नाटकमेंही हुए है। हुमचा जिला शिमोगाके शिलालेखमें विद्यानन्द स्वामीका जिन अनक राजाओंकी सभाओंमें जाकर विजय प्राप्त करना लिखा है वे सब दक्षिण और कर्नाटकके ही है। इससे उनका दाक्षिणात्य या कर्नाटकी होना ही अधिक संभव जान पडता है।

कहा जाता है कि वे नन्दिसंघके आचार्य थे। परन्तु हमारी

समझमें उस समय तक नन्दि, सेन, देव और सिंह इन चार संघोंका अस्तित्व ही न था। मंगराज नामक एक कर्नाटक-कविका शक संवत १३५५ (वि० सं० १४९०) का एक विस्तृत शिला लेख मिला है जिसमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि भगवान् अकलङ्कभट्टके स्वर्ग जानेके बाद उनकी परम्पराके मुनियोंमें ये चार संघभेद हुए। और यह ठीक भी मालूम होता है। क्योंकि अकलंकदेवके समय तकके किसी भी ग्रन्थकर्ताके ग्रन्थमें इन संघोंका उल्लेख नहीं पाया जाता। जान पडता है, इनके 'नन्द्यन्त, नामसे ही ये नन्दिसंघके आचार्य समझ लिये गये हैं।

१ विद्यानन्द स्वामीने अपने 'अष्टसहस्री, ग्रन्थमें भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थका निम्नालिखित श्लोक उद्धृत किया है:--

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥

चीन देशका सुप्रसिद्ध यात्री हुएनसंग वि० सं० ६८६ में भारत भ्रमण करने आया था और ७०२ तक इस देशमें रहा था। उसने अपनी यात्रा-पुस्तकमें लिखा है कि इससमय व्याकरण शास्त्रमें भर्तृहरि बहुत प्रसिद्ध विद्वान है। इससे मालूम होता है कि भर्तृहरि वि० सं० ७०० के लगभग जीवित थे और विद्यानन्द उनसे पीछे हुए हैं।

२ प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिलभट्टने अपने श्लोकवार्तिक नामक ग्रन्थमें अलंकदेवकी अष्टशतीके वाक्योंको लेकर उनपर

क्षेप किया है और उनका निवारण अकलंकदेवके प्रशिष्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीमें जगह जगह किया है। श्रीयुक्त पं० बाबू काशीनाथजी पाठक बी० ए० ने इस विषयमें एक बडाही महत्त्व पूर्ण लेख प्रकाशित किया है और उक्त विद्वानोंके ग्रन्थोंकी भीतरी जांच कर बतलाया है कि कुमारिलभट्ट और अकलंकदेव एक ही समयमें हुए हैं, और कुमारिल अकलंकदेवके कुछ बादतक जीवित रहे हैं। कुमारिलभट्टका समय वि० सं० ७५७ से ८१७ तक निश्चित है। अतएव विद्यानन्द स्वामी भी लगभग इसीसमयमें अथवा इससे कुछ पीछे हुए होंगे।

३ चिद्विलास कृत 'शंकरविजय' से मालूम होता है कि मण्डनमिश्रका दूसरा नाम सुरेश्वर था और सुरेश्वर आद्य शंकराचार्यका शिष्य था। आद्य शंकराचार्यका समय वि० सं० ८०७ से ८९५ तक निश्चित किया गया है, अतएव मण्डन मिश्रका भी लगभग यही समय मानना चाहिए। इस मण्डन मिश्रके 'वृहदारण्यकवार्तिक' के कई श्लोकोंको विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें तद्धृत कर उनका खण्डन किया है। इससे विद्यानन्दका समय भी वि० सं० ८ ५ के लगभग मानना चाहिए।

४ परन्तु उनका समय वि० सं० ८९५ से और पीछे नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसी समय अर्थात् शक संवत् ७६० (वि० सं० ८९५) के लगभग भगवाज्जिनसेनने आदि पुराणकी रचना की है और उसके प्रथम पर्वमें उन्होंने पात्रकेसरी या विद्यानन्द स्वामीका स्मरण किया है:—

भट्टाकलंक-श्रीपाल-पात्रकेसरिणां गुणाः ।
विदुषां हृदयारूढा हारायन्तेऽतिनिर्मलाः ॥ ४९ ॥

इससे मालूम होता है कि वि० सं० ८९५ के लगभग विद्यानन्द स्वामीकी अच्छी ख्याति हो चुकी थी ।

भट्टाकलंक, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, माणिक्यनन्दि, आदि सव समकालीन विद्वान् थे । इनमें सबसे पहले अकलङ्कदेव हैं । क्योंकि इनके किसी भी ग्रन्थमें विद्यानन्द आदिका उल्लेख नहीं है। किन्तु प्रभाचन्द्रने न्यायकुमुदचन्द्रोदयमें लिखा है कि मैंने अकलङ्कदेवके चरणोंसे बोध प्राप्त किया, साथ ही उन्होंने विद्यानन्दका भी उल्लेख किया है । इससे अकलंक और विद्यानन्दको उनका पूर्ववर्ती मानना चाहिए । इसके सिवाय माणिक्यनन्दि भी उनसे पूर्ववर्ती हैं । क्योंकि उनका प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख नामक ग्रन्थका ही भाष्य है । परन्तु माणिक्यनन्दी, अकलंक और विद्यानन्दका स्मरण करते हैं, अतएव वे उनसे पीछेके हैं । इस तरह हम इन आचार्योंका क्रम इस तरह मानते है--१ अकलंक, २ विद्यानन्द, ३ माणिक्यनन्दि और ४ प्रभाचन्द्र । ये सभी अपने समयके महान् तार्किक विद्वान थे ।

मल्लिषेण प्रशस्तिसे मालूम होता है कि भट्टाकलंकदेव राष्ट्रकूट (राठौर) राजा साहसतुङ्गकी सभामें गये थे । साहसतुंगका दूसरा नाम कृष्णराज था । डा० भाण्डारकरने अनेक प्रमाणोंसे इसका राज्यकाल वि० सं० ८१० से ८३२ तक

निश्चित किया है। अतएव भट्टाकलंकदेवका समय भी इसीके लगभग निश्चित होता है और चूंकि प्रभाचन्द्रने उनसे बोध प्राप्त किया था, तथा प्रभाचन्द्र विद्यानन्दका स्मरण करते हैं तथा विद्यानन्द अकलंकदेवके ग्रन्थोंके टीकाकार हैं, अतः विद्यानन्दका अस्तित्व वि० सं० ८३२ से ८९५ के बीचमें माना जाना चाहिए।

विद्यानन्दस्वामी अनेक तर्क ग्रन्थोंके रचयिता हैं। उनमें से अष्टसहस्री (आप्तमीमांसालङ्कार), श्लोकवार्तिकालङ्कार (तत्त्वार्थालङ्कार), आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पात्रकेसरीस्तोत्र और युक्त्यनुशान टीका ये ग्रंथ छप चुके हैं। प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, विद्यानंदमहोदय, बुद्धेशभवन व्याख्यान, और आप्तपरीक्षालङ्कृति नामक ग्रंथ अभीतक अनुपलब्ध है। *

प्रस्तुत ग्रन्थ, स्वामी समन्तभद्रके स्तोत्रग्रन्थकी टीका है। इसकी एक प्रति हमें जैनेन्द्रप्रेसके स्वामी पण्डित कल्लापा भरमापा-निटवेकी कृपासे प्राप्त हुई थी जो उन्होंने किसी कनडीप्रतिपरसे एक विद्वानके द्वारा लिखाई थी और दूसरी प्रति स्याद्वादपाठशाला काशीके सरस्वती भवनसे पण्डित उमरावसिंहजीकी कृपासे प्राप्त हुई थी। इन दोनो प्रतियोंपरसे इसकी प्रेस कापी साहित्य शास्त्री पं० इन्द्रलालजी चांदूवाडने की है और प्रूफ-संशोधन पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थने किया है।

---

* जैन हितैषी भाग ९ अंक ९ में प्रकाशित हुए विस्तृत लेखका सारांश।

संशोधनादि कार्यमें यथासंभव सावधानी रक्खी गई है। फिर भी यदि कुछ अशुद्धिया रह गई हों, तो उनको विद्वज्जन संशोधन पूर्वक पढनेकी कृपाकरें।

निवेदक—

नाथूराम प्रेमी।





श्रीवीतरागाय नमः ।

आचार्यप्रवरश्रीमद्विद्यानंदिप्रणीतया टीकया विभूषितं

श्रीमत्समंतभद्राचार्यवर्यप्रणीतं

युक्त्यनुशासनं ।

टीकाकर्त्तुर्मंगलाचरणं ।

प्रमाणनयनिर्णीतवस्तुतत्त्वमबाधितं ।
जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनं ॥

श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छे-द्राद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थंकरपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः ? इति ते पृष्टा इव प्राहुः-

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वं ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्णदोषाशयपाशबन्धं ॥ १ ॥

टीका—स्तुतिगोचरत्वं स्तोत्रविषयत्वं निनीषवो नेतुमि-च्छवो वयं मुमुक्षवोऽस्मिन् काले परीक्षावसानसमये स्मो भवामस्त्वां वीरं नान्यत् किंचित्कर्तुकामा इति प्रतिवचनेनाभि-

संबंधः । कुतः स्तुतिगोचरत्वं नेतुमिच्छवो भवन्त इत्याहुः— ऋद्धमानमिति प्रवृद्धप्रमाणत्वादित्यर्थः, ऋद्धं प्रवृद्धं मानं प्रमाणं यस्य स एव वर्द्धमान इत्युच्यते ।

किं पुनस्तस्य प्रमाणं प्रवृद्धमिति चेत्, तत्त्वज्ञानमेव, तत्त्वज्ञानं प्रमाणं स्याद्वादिति वचनात् तस्यैव प्रवृद्धत्वोपपत्तेः स्याद्वादनयसंस्कृतत्वात् । सन्निकर्षादेरुपचारादन्यत्र प्रमाणत्वायोगान्निर्विकल्पकदर्शनवत् प्रवृद्धत्वासंभवात् । तत्त्वज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानत्वान्यथानुपपत्तेः। न ह्यव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं नामाकिंचित्करस्य तत्त्वज्ञानत्वप्रसंगात् । नाकिंचित्करं तत्त्वज्ञानं व्यवसायकरत्वात्तत्त्वज्ञानत्वादिति चेत्, न स्वयमव्यवसायात्मनो दर्शनस्य व्यवसायकरत्वविरोधात् सुगतदर्शनवत् । क्षणक्षयादिदर्शनबुद्धव्यवसायवासनाप्रबोधसहकारि दर्शनं व्यवसायकारणं नापरमिति चेत्, कुतो व्यवसायवासनाप्रबोधः? दर्शनादिति चेत्, तर्हि क्षणक्षयादावपि स्यात्कथं च सुगतदर्शनं न स्यात्? तत्राविद्योदयसत्त्वादिति चेत्, तर्हि अविद्योदयसहायाद्दर्शनात् स च भवतु क्षणक्षयादौ, नास्तीति मतं तदा दर्शनभेदप्रसंगः, न ह्येकमेव दर्शनं नीलादौ व्यवसायवासनाप्रबोधनिबंधनाविद्योदयसमाक्रान्तं क्षणक्षयादावन्यथेति वक्तुं युक्तम् । स्यान्मतं, दर्शनस्याविद्योदयवैचित्र्याद्वैचित्र्यं ततस्तस्यान्यत्वात्तदन्यत्वे दर्शनस्य वास्तवत्वाविरोधात्, वास्तवं हि दर्शनमवास्तवा वाऽविद्या, तदुभयभेदान्न दर्शनभेद इति । तदपि स्वसिद्धान्तमात्रं,

तस्या विकल्पवासनाहेतुत्वविरोधात् , वास्तवं हि किंचित् कस्यचित् कारणमिष्टं नावास्तवं शशविषाणं, न चाविद्या वास्तविका। यदि पुनर्यथा वास्तवं कारणं वास्तवमेव कार्यमुपजनयति तद्वदवास्तवमवास्तवं विरोधाभावात् , ततश्चाविद्योदयः स्वयमवास्तवो विकल्पवासनाप्रबोधमवास्तवं करिष्यतीत्यभिधीयते, तदा विकल्पवासनाप्रबोधोऽप्यवास्तवो नीलादिव्यवसायमवास्तवमेव जनयेत्। वास्तवदर्शनहेतुत्वात् वास्तवोऽपि नीलादिविकल्प इति चेत्; तर्हि वास्तवावास्तवाभ्यां दर्शनविकल्पवासनाप्रबोधाभ्यां जनितो नीलादिविकल्पो वास्तवावास्तवः स्यात्, तथा च तज्जनकं दर्शनं कथमिव तत्त्वज्ञानमुपपद्येत संशयादिविकल्पजनकस्यापि दर्शनस्य तत्त्वज्ञानत्वप्रसंगात्। यथैव हि नीलादिविकल्पः स्वरूपे वास्तवः स्वालंबने चावास्तवस्तथा संशयादिविकल्पोऽपि, सर्वचित्तचैत्तानामात्मसंवेदनस्य वास्तवत्वात् तदालंबनस्य चाऽन्यापोहस्यावास्तवत्वात् वास्तवावास्तवोपपत्तिः। ननु दर्शनपृष्ठभाविनो विकल्पस्य वस्तुव्यवसायकत्वात् तज्जनकं दर्शनं तत्त्वज्ञानं, न पुनः संशयादिविकल्पजनकं तस्यावस्तुपरामर्शित्वात्। न हि संशयेन विषयीक्रियमाणं चलिताकारद्वयं वस्तुरूपं, नाऽपि विपर्यासेनालंब्यमानं विपरीतं वस्तुरूपं यतोऽस्य वस्तुपरामर्शिता स्यादिति कश्चित्। सोऽप्येवं प्रष्टव्यः, कुतो नीलादिविकल्पस्य वस्तुव्यवसायित्वं सिद्धं ? वस्तुव्यवसायिविकल्पवासनाप्रबोधात्, सोऽपि वस्तुव्यवसाय्यविद्योदयादिति चेत्.

तर्ह्यविद्योदयवंशप्रभवो नीलादिविकल्प इत्येतदायातम् । तथा च तज्जननान्न दर्शनं तत्त्वज्ञानं युक्तमतिप्रसंगात् ।

तदविसंवादकत्वात् तत्त्वज्ञानमिति चेत्, तदपि यद्यर्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वं तच्च प्रवर्त्तकत्वं तदपि प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते तदा न व्यवतिष्ठते दर्शनस्याव्यवसायात्मनः प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वे क्षणक्षयाद्युपदर्शकत्वप्रसंगात् नीलाद्युपदर्शकत्ववत्, नीलादिवत् क्षणक्षयादावपि दर्शनविषयत्वाविशेषात् । क्षणक्षयादौ विपरीतसमारोपान्न तदुपदर्शकत्वमिति चेत्, सोऽपि कुतः? सदृशापरापरोत्पत्तिदर्शनादविद्योदयाच्चेति चेत्, न सदृशापरापरोत्पत्तिदर्शनस्य समारोपनिमित्तस्यापरापरजलबुद्बुदोत्पत्तिदर्शनेन व्यभिचारात् तत्रैकत्वसमारोपासंभवात् तथान्तरंगस्य चाविद्योदयस्य बाह्यकारणरहितस्यासमर्थत्वात् तन्मात्रादेवान्यथा सर्वत्र विभ्रमप्रसंगात् ।

स्यान्मतं, अपरापरजलबुद्बुदेषु सदृशापरापरोत्पत्तिदर्शने सत्यप्यविद्योदयासंभवान्नैकत्वसमारोपः ततो न व्यभिचार इति । तदयुक्तम्, क्षणक्षयादिदर्शनस्यावोधिसत्त्वादप्रसिद्धेः, पश्यन्नयं क्षणिकमेव न पश्यतीति वचनस्य स्वमनोरथमात्रत्वात्, शक्यं हि वक्तुं पश्यन्नयं नित्यमेव पश्यत्यनाद्यविद्योदयादपरापरज्ञानोत्पत्तिषु क्षणिकत्वसमारोपान्नावधारयतीति । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्तु नित्यस्येव क्षणिकस्यापि विद्यत एव ततः पश्यन्नयं जात्यन्तरमेव पश्यति दर्शनमोहोदयात्तु दुरागमजनितवासनासहायाद्विपरीतसमारोपसंभवान्नावधारयतीति युक्तमुत्पश्यामः । तथा चाक्षादिज्ञानस्य द्रव्यप-

र्यायात्मकः कथंचित् नित्यानित्यात्मा सदृशेतरपरिणामात्मकः सामान्यविशेषात्मकः जात्यन्तरभूतोऽनेकान्तात्मार्थो विषयः सिद्धः, सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् तदुपदर्शकत्वं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वं तत् प्रवर्त्तकत्वं तत्रार्थक्रियाप्राप्तिनिमित्तत्वं तदप्यविसंवादित्वं तल्लक्षणं तत्त्वज्ञानं कथमविकल्पकं जात्याद्यात्मकस्य सविकल्पकस्यार्थसामर्थ्येन समुद्भूतत्वाज्जात्यादिरहितस्य स्वलक्षणार्थस्य सर्वथाऽनर्थक्रियाकारिणोऽनुपपत्तेः तत्कारणेन तत्त्वज्ञानस्योद्भवासम्भवात् निर्विकल्पकत्वादसिद्धेः। स्यान्मतम्, संहृतसकलविकल्पावस्थायां अश्वविकल्पकाले गोदर्शनविषयाणां निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रत्यक्षत एव सिद्धं। विकल्पेन नामसंश्रयेण प्रत्यात्मना वेद्येन रहितस्य प्रत्यक्षस्य संवेदनात्। तदुक्तम्—

प्रत्यक्षं कल्पनापोढं प्रत्यक्षेणैव सिद्ध्यति।
प्रत्यात्मवेद्यः सर्वेषां विकल्पो नामसंश्रयः॥ इति

तदसत्। व्यवसायात्मकस्यैव प्रत्यक्षस्य स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः नामसंश्रयस्य विकल्पस्य तत्राऽनुपलंभेऽप्यक्षादिसंश्रयस्य संवेद्यमानत्वात्, संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि स्तिमितेनान्तरात्मना स्थितस्य चक्षुषा रूपमीक्षमाणस्याक्षजाया मतेः सविकल्पकात्मिकाया एव प्रतीतेः। अन्यथा व्युत्थितचित्तावस्थायां तथैव स्मरणानुपपत्तेः एतेनानुमानात्प्रत्यक्षे कल्पनाविरहसिद्धिरपास्ता। पुनः किंचिद्विकल्पयतो यथाऽश्वकल्पना ममासीदिति वित्तिस्तथा गोनिश्चयोऽप्यश्वविकल्प-

काले ममेन्द्रियबलादासीदिति वित्तिरपि कथमन्यथोपपद्येत गवाश्वविकल्पयोर्युगपद्विरोधात् । नैवं वित्तिः सत्येति चेत्, न तयोः क्रमादेवाशूत्पत्तेर्यौगपद्याभिधानात्। तत्त्वतो ज्ञानद्वयस्य सोपयोगस्य युगपदसंभवात्, क्वचिदुपयुक्तानुपयुक्तज्ञानयौगपद्यवचनेपि विरोधाभावात् । तर्हि गोदर्शनमनुपयुक्तमश्वविकल्पस्तूपयुक्तस्ततस्तयोर्युगपद्भावो युक्त एवेति चेत्, न किंचिदनिष्टं स्याद्वादिनां। तथाऽनुपयुक्तवेदनस्य निर्विकल्पकत्वस्यापीष्टत्वात् । क्वचित्किंचिदुपयुक्तं हि ज्ञानं व्यवसायात्मकमिष्यते सर्वथाऽनुपयुक्तस्याव्यवसायात्मकस्य तत्त्वज्ञानत्वविरोधात्। न चैवं केवलज्ञानमतत्त्वज्ञानं प्रसज्येत तस्यापि नित्योपयुक्तत्वेन व्यवसायात्मकत्वोपगमात् । ननु च वीतरागाणां क्वचित्प्रवृत्त्यसंभवात् सर्वदौदासीन्यादुपयोगाभावादनुपयुक्तमेव ज्ञानमनुमन्तव्यम् । तथा च निर्विकल्पकं तत्सिद्धं । तद्वदक्षादिज्ञानमपि निर्विकल्पकं सत् तत्त्वज्ञानं भविष्यतीति केचित्, तेऽपि न युक्तिवादिनः, योगज्ञानस्यानुपयुक्तत्वे सर्वपदार्थप्रतिभासनस्य विरोधात्, तस्यैवोपयोगरूपत्वाद्, युगपत्सर्वार्थग्रहणमेव ह्युपयोगः सर्वज्ञविज्ञानस्य, न पुनर्जिहासोपादित्साभ्यां हानोपादानलक्षणा प्रवृत्तिः, तस्या रागद्वेषोपयोगनिबंधनत्वात् प्रक्षीणरागद्वेषस्य सर्वज्ञस्य तदसंभवात् । कथमेवं सर्वज्ञविज्ञानं निष्फलं न भवेदिति चेत्, न तदभिन्नस्य फलस्य सकलाज्ञाननिवृत्तिलक्षणस्य सद्भावात्, सर्वस्य ज्ञानस्य साक्षादज्ञाननिवृत्तिफलत्वाद्धानोपादानोपेक्षाविषयस्य परंपराज्ञानफलत्वप्र-

सिद्धेः सकलवेदिविज्ञानस्य परम्परयाप्युपेक्षामात्रफलत्वात् । तथा चोक्तम्—

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ इति

नित्योपयुक्तत्वात्सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव युक्तमन्यथा तस्याकिंचित्करत्वप्रसंगात् तद्वद्दक्षादिज्ञानानामपीति न किंचिदव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानमस्ति येन साधनव्यभिचारः स्यात् । अत्रापरः प्राह—सत्यम्, व्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं अर्थव्यवसायलक्षणत्वात्, न तु स्वव्यवसायात्मकं तस्य ज्ञानांतरेण व्यवसायादिति । सोऽपि न प्रेक्षावतामभिधेयवचनोऽनवस्थानुषंगत्वात् । कस्यचिदर्थज्ञानस्य हि येन ज्ञानेन व्यवसायस्तन्न तावदव्यवसितमेव तस्य व्यवसायकं परात्मज्ञानवत्, ज्ञानान्तरेण तद्व्यवसाये तु तस्यापि ज्ञानान्तरेण व्यवसाय इत्यनवस्थानं दुर्निवारं । ननु च ज्ञानस्य स्वविषये व्यवसितिजनकत्वं व्यवसायात्मकत्वं तच्च ज्ञानान्तरेण व्यवसितस्याऽपि युक्तं सन्निकर्षवत् । न हि सन्निकर्षादिः केनचिद् व्यवसितो व्यवसितिमुपजनयति तद्वदर्थज्ञानं ज्ञानान्तरेणाव्यवसितमेव व्यवसितिमुत्पादयतीति कश्चित् । सोऽपि न प्रातीतिकवचनोऽर्थज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणाव्यवसितस्यैवार्थव्यवसितिजनकत्वप्रसंगात् ज्ञानज्ञानपरिकल्पनवैयर्थ्यात् । तथा लिंगस्य ज्ञानेनाव्यवसितस्य स्वलिंगिनि, शब्दस्याभिधेये, सादृश्यस्योपमेये, व्यवसितिजनकत्वसिद्धेस्तद्वि-

ज्ञानान्वेषणं किमर्थं पुष्णीयात्। यदि पुनरुभयथा दर्शनाददोष इति मतं तदाऽपि किंचिल्लिंगादिकमज्ञातं स्वलिंग्यादिषु व्यवसितिमुपजनयत्कथमपवार्यते। चक्षुरादिकमपि किंचिद्विज्ञातमेव स्वविषये परिच्छित्तिमुत्पादयदुभयथा दर्शनात्। स्यान्मतं चक्षुरादिकमेवाज्ञातं स्वविषयज्ञप्तिनिमित्तं दृष्टं, न तु लिंगादिकं तदपि ज्ञातमेव नान्यथा ततो नोभयत्रोभयथा प्रसंगः प्रतीतिविरोधादिति। तर्हि यथार्थज्ञानं व्यवसितमर्थज्ञप्तिनिमित्तं तथा ज्ञानज्ञानमपि ज्ञानेऽस्तु तत्राऽप्युभयथा परिकल्पनायां प्रतीतिविरोधस्याविशेषात्। कया पुनः प्रतीत्याऽत्र विरोध इति चेच्चक्षुरादिषु कयेति समः पर्यनुयोगः। विवादापन्नं चक्षुरादिकमज्ञातमेवार्थज्ञप्तिनिमित्तं चक्षुरादित्वात्, यदेवं तदेवं यथाऽस्मच्चक्षुरादि, तथा च विवादापन्नं चक्षुरादि, तस्मात्तथा। विवादाध्यासितं लिंगादिकं ज्ञातमेव क्वचिद्विज्ञप्तिनिमित्तं लिंगादित्वात्, यदित्थं तदित्थं यथोभयवादिप्रसिद्धं धूमादि, तथा च विवादाध्यासितं लिंगादि, तस्मात्तथेत्यनुमानप्रतीत्या तत्रोभयथाकल्पने विरोध इति चेत्, तर्हि विवादापन्नं ज्ञानज्ञानं ज्ञातमेव स्वविषये ज्ञप्तिनिमित्तं ज्ञानत्वात्, यदेवं तदेवं यथार्थज्ञानं, तथा च विवादाध्यासितं ज्ञानज्ञानं, तस्मात्तथेत्यनुमानप्रतीत्यैव तत्रोभयथा कल्पनायां विरोधोऽस्तु सर्वथा विशेषाभावात् तथा चानवस्थानं दुर्निवारमेव नैयायिकंमन्यानां। स्यादाकूतमर्थज्ञानमप्यर्थे ज्ञानांतरेणाज्ञातमेव ज्ञप्तिमुत्पादयति यथा विशेषणज्ञानं विशेष्येर्थे, न पुनर्ज्ञानं तद्विज्ञानोत्पत्तेः

प्रागेव तत्र ज्ञप्तेरभावप्रसंगात्, न चैवं, तथा प्रतीतेरर्थजिज्ञासायां हि स्वहेतोरर्थज्ञानमुत्पद्यते । ज्ञानजिज्ञासायान्तु पश्चादेव ज्ञाने ज्ञानं प्रतीतेरेवंविधत्वादिति । तदप्यसत्यम् । स्वयमर्थज्ञानं ममेदमित्यप्रतिपत्तौ तथा प्रतीतेरसंभवात् प्रतिपत्तौ तु स्वतस्तत्प्रतिपत्तिर्ज्ञानान्तरात् वा । स्वतश्चेत् ? स्वार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिर्वेदनस्य वस्तुवलप्राप्ता क्वचिदर्थे जिज्ञासायां सत्यामहमुत्पन्नमिति स्वयं प्रतिपद्यमानं हि विज्ञानं स्वार्थपरिच्छेदकमभ्यनुज्ञायते नान्यथेति जैनमतसिद्धिः । यदि पुनर्ज्ञानान्तरात्तथा प्रतिपत्तिस्तदाऽपि तदर्थज्ञानमज्ञातमेव मयार्थस्य परिच्छेदकमिति स्वयं ज्ञानान्तरं प्रतिपद्यते चेत्तदेव स्वार्थपरिच्छेदकं सिद्धं, न प्रतिपद्यते चेत्कथं तथा प्रतिपत्तिः ?

किं चेदं च विचार्यते—ज्ञानान्तरमर्थज्ञानमर्थमात्मानं च प्रतिपद्याज्ञातमेव मया ज्ञातमर्थं जानातीति प्रतिपाद्यऽप्रतिपाद्य वा प्रथमे पक्षेऽर्थस्य तत् ज्ञानस्य स्वात्मनः स्वपरिच्छेदकत्वविषयं ज्ञानान्तरं प्रसज्येत । द्वितीयपक्षे पुनरतिप्रसंगः, सुखादिकमज्ञातमेवादृष्टं मया करोतीत्यपि जानीयादविशेषात्ततः किं बहुनोक्तेन ज्ञानमर्थपरिच्छेदकं तामिच्छता स्वपरिच्छेदकमेषितव्यम् । यथेश्वरज्ञानं स्वपरिच्छेदकत्वाभावेर्थज्ञानत्वानुपपत्तेः । तथा चैवं प्रयोगः कर्त्तव्यः—विवादाध्यासितं ज्ञानं स्वपरिच्छेदकमर्थज्ञानत्वात्, यदर्थज्ञानं तत्स्वपरिच्छेदकं यथेश्वरज्ञानं । अर्थज्ञानं च विवादाध्यासितं तस्मात् स्वपरिच्छेदकं । न चक्षुरादिना हेतोर्व्यभिचारस्तस्याज्ञानत्वात्, नाऽपि मूर्च्छितादिज्ञानेनार्थवि-

शेषणत्वात् । तद्धि मूर्च्छितादिज्ञानं नार्थज्ञानं पुनस्तदर्थे स्मरणप्रसंगात् । न च मूर्च्छितादिदशायां परैर्ज्ञानमिष्टं येन व्यभिचारः स्यात् । येषां तु तस्यामपि दशायां वेदनया निद्रया वाऽभिभूतं विद्यमानमेव मत्तदशायां मदिरेत्यादिवत् मदाभिभूतिवेदनवदन्यथा तदा नैरात्म्यापत्तेरिति मतं, तेषां विज्ञानस्य स्वव्यवसायोऽपि तदभिभूतप्रसिद्ध एवेति कथं तेनानैकान्तिकता ज्ञानत्वस्य हेतोः स्यात्ततोऽर्थज्ञानत्वं स्वव्यवसायात्मकत्वं साधयत्येव साध्याविनाभावनियमनिश्चयात् । नन्वीश्वरज्ञानमुदाहरणमाध्यशून्यं तस्य स्वव्यवसायात्मकत्वाभावादिति चेन्नेश्वरस्य सर्वज्ञत्वविरोधात् । ज्ञानान्तरेणात्मज्ञानस्य परिज्ञानात् सर्वज्ञत्वे तदपि ज्ञानान्तरं स्वव्यवसायात्मकं चेत्तदेवोदाहरणं । ज्ञानान्तरेण व्यवसितं चेदनवस्थानं तत्राऽप्येवं पर्यनुयोगात् । न चेश्वरस्य नानाज्ञानपरिकल्पना युक्ता सहस्रकिरणवत् साक्षात्सकलपदार्थप्रकाशकमेकमेवेश्वरस्य मेचकज्ञानमिति सिद्धान्तविरोधात्, तदीश्वरस्य ज्ञानमुदाहरणमेव साध्यवैकल्यानुपपत्तेः साधनवैकल्याभावाच्च । अर्थज्ञानत्वं हि साधनं तदुदाहरणे विद्यत एव विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावाद्वा साध्याविनाभावनियमस्य प्रसिद्धेः प्रकृतसाधनं साध्यं साधयत्येव । स्वव्यवसायरहितत्वे ज्ञानस्यानीश्वर इवेश्वरेपि प्रमाणविरुद्धत्वात् । स्वव्यवसायात्मकसकलार्थज्ञानात्कथंचिदभिन्नस्य परमात्मन एवाप्तपरीक्षायामीश्वरत्वसमर्थनात् । ततः स्थितमेतत्स्वार्थव्यवसायात्मकं तत्त्वज्ञानं प्रबुद्धं मानं प्रमाणमिति ।

परमार्थतः स्वव्यवसायात्मकमेव तत्त्वज्ञानं चेतनत्वात् स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानवदित्यपरस्तस्यापीदमनुमानज्ञानं स्वव्यवसायार्थस्य व्यवसायकमव्यवसायकं वा, व्यवसायकं चेत् सिद्धं स्वार्थव्यवसायात्मकं, तद्वत्सर्वतत्त्वज्ञानं तथा स्यात्। अव्यवसायकं चेदसाधनांगं व्यर्थत्वात्। संव्यवहारतोऽनाद्यविद्योदयकल्पितात्तद्व्यवसायात्मकमिति चेत् तर्हि परमार्थतो नास्मादनुमानात्स्वव्यवसायात्मकं साध्यं सिद्ध्येदिति। यत्किंचनभाषी स्वव्यवसायात्मकज्ञानैकान्तवादी स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्यार्थक्रियार्थिभिः संव्यहारिभिरादरणीयत्वात्, प्रकाश्याप्रकाशकस्य पदार्थस्य प्रकाशार्थिभिरनादरणीयत्वात्तदलमतिप्रसंगेन प्रपंचतः प्रमाणपरीक्षायां प्रमाणस्य तत्त्वज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकस्य परीक्षितत्वात्।

ननु च त्वां वर्द्धमानं वीरं स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्येति वाक्यं न युक्तं व्याख्यातुं, त्वां वा त्वामेव वीरमेवेति वाशब्देनावधारणार्थेन ततोऽन्यतीर्थकरसमूहस्य स्तुत्यस्याभिमतस्य स्तुतिगोचरत्वव्यवच्छेदानुषंगात् तथा च सिद्धान्तविरोध इति कश्चित्। सोऽपि न विपश्चित्, स्तोतुरभिप्रायापरिज्ञानात्तस्य ह्ययमभिप्रायोऽन्त्यतीर्थकरस्यैवेदंयुगीनतीर्थप्रकाशनप्रधानस्य वर्द्धमानत्वेन स्तुतिगोचरत्वसमर्थने सकलस्य स्तुत्यस्य सिद्धान्तप्रसिद्धस्य स्तुतिगोचरत्वं समर्थितं भवत्येव वर्द्धमानत्वस्य तत्साधनस्याविशेषात् यस्य यस्य वर्द्धमानं प्रवृद्धं मानं प्रमाणं केवलज्ञानं परमगुरोः, श्रुतज्ञानादि वा परगुरोर्निश्ची-

यते सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेन सुखादिवत् तस्य तस्य स्तुतिगोचरत्वं प्रसिद्धं भवति । वीरशब्देन वा सर्वस्य स्तुत्यस्याभिधानात्, नायुक्तमवधारणार्थं वाशब्दव्याख्यानं महतो महासत्वस्यासहायस्यान्तरारातिनिर्जयनोद्यतस्य पुरुषविशेषस्य शक्तिशुद्धिप्रकर्षं दधानस्य लोके वीरशब्दप्रयोगात् । विशिष्टां मां लक्ष्मीं मुक्तिलक्षणामभ्युदयलक्षणां वा रातीति वीर इति व्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाद्वा सर्वस्य स्तुत्यस्य संग्रहात् प्रकृतवाक्यव्याख्यानं युक्तमुत्पश्यामः ॥ किं विशिष्टं मां वीरमृद्धमानं निश्चिन्वन्ति भवन्तो यतः स्तुतिगोचरत्व निनीषवोद्य भवन्तीति भगवता पृष्टा इव सूरयः प्राहुः—विशीर्णदोपाशयपाशबन्धमिति । अत्राज्ञानादिदोषस्तस्याशयः संस्कारः पूर्वो दोष आशेतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः । दोषहेतुर्वा ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतिविशेषोदय इति भावकर्मणो द्रव्यकर्मणश्च वचनं, दोषश्चाशयश्च दोपाशयौ तावेव पाशौ ताभ्यां बन्धः पारतंत्र्यं विशीर्णो दोपाशयपाशबन्धोऽस्येति विग्रहः । तदेतेनैतदुक्त भवति, यस्मात्त्वा विशीर्णदोपाशयपाशबन्धं वयं निरणैष्म तस्माद्वर्धमानं स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्म इति । कथमेवंविधं मां निरणैषुर्भवन्त इत्याहुर्यतः कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां निरणैष्म । कीर्त्यन्ते जीवादयस्तत्त्वार्था यया सा कीर्तिर्भगवतो वाक्, महती युक्तिशास्त्राविरोधिनी तया । भुवि समवशरणभूमौ साक्षात्परंपरया सकलपृथिव्यां परमागमविषयभूतां वर्द्धमानः पुष्यन्निखिलप्रेक्षावज्जनमनांसि परापराणि व्याप्नुवन्नित्यभिधीयते । सर्वत्र स-

र्वेदा सर्वेषां युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् सिद्ध इत्यर्थः। ततोऽयं समुदायार्थः, स्तुतिगोचरो भगवान्वीरः परमात्मा वर्द्धमानत्वात् यस्तु नैवं स न वर्द्धमानो यथा रथ्यापुरुषस्तथा चायं भगवानिति। तद्वद्धर्धमानो भगवान् विशीर्णदोषाशयपाशबन्धत्वात् यस्तु नेत्थं स न तथा यथा मिथ्यादृक् तथा च भगवान् इति। विशीर्णदोषाशयपाशबंधो भगवान् कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानत्वात् यस्तु नैवंविधः स न तथा यथा प्रसिद्धोऽनाप्तः, कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानश्च भगवान् तस्माद्विशीर्णदोषाशयपाशबंध इति केवलव्यतिरेकी हेतुरन्यथोपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणत्वात् स्वसाध्यं साधयत्येव तथाऽऽप्तमीमांसायां व्यासतः समर्थितत्वात्। किंलक्षणा स्तुतिर्यद्गोचरत्वं मां नेतुमिच्छन्ति भवन्त इति भगवता प्रश्ने कृत इव सूरयः प्राहुः—

> याथात्म्यमुल्लङ्घ्य गुणोदयाख्या
> लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते।
> अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
> वक्तुं जिन त्वां किमिव स्तुयाम॥ २॥

"याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाख्या लोके स्तुतिः" इति चतुरशीतिर्लक्षाणि गुणास्तेषां गुणानां याथात्म्यं यथावस्थितस्वभावस्तदुल्लंघ्य गुणोदयस्याख्या लोके स्तुतिरिति लक्ष्यते यद्येवं तदा स्तुतिकर्त्तारस्तावन्तः किं शक्ताः भगवता इति पर्यनुयुक्ताः प्राहुः—

"भूरिगुणोदधेस्ते । अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन त्वां किमिव स्तुयाम ।" इति, तर्हि भूरिगुणोदधेरनन्तगुणसमुद्रस्य ममाणिष्ठमप्यंशं सूक्ष्मतममपि गुणा वक्तुं यदि न शक्नुवन्ति भवन्तः किमप्युपमानमपश्यन्तस्तदा किमिति स्तोतारो भवन्तीति भगवता पर्यनुयुक्ता इव प्राहुः—

तथापि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥ ३ ॥

"तथाऽपि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोतास्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।" तथाऽपि तेऽणिष्ठमप्यंश वक्तुमशक्नुवन्नपि वैयात्यं धाष्टर्यमुपेत्योपगम्य भक्त्या हेतुभूतया ते वीरस्य स्तोताऽस्मि शक्त्यनुरूपवाक्यः सन्नहमिति संबन्धः परेऽप्येवमुत्सहमानाः सन्तीति दर्शनार्थमिदमुक्तम् ।

"इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किं नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ।" इति उत्सहन्त एवेत्यर्थः । यदि यथास्वशक्ति स्वेष्टे प्राप्येऽर्थे प्रवृत्त्यादिक्रियाभिः समुत्सहमानपुरुषवत् भवन्तः स्तुतिं वक्तुं प्रवर्तन्ते तदा कियत वक्तुं शक्ता इत्याह—

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन ! शान्तिरूपाम् ।

अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥ ४ ॥

ज्ञानदर्शनावरणविगमादमलज्ञानदर्शनाविर्भूतिः शुद्धिस्तथान्तरायविनाशाद्वीर्यलब्धिः शक्तिस्तयोरुदयस्य प्रकर्षस्य काष्ठाऽवस्था तां जिन! भगवन्! अवापिथ त्वं। किंविशिष्टां तुलाव्यतीतामुपमातिक्रान्तां तथा शान्तिरूपां प्रशमसुखात्मिकां सकलमोहक्षयोद्भूतत्वात्ततो ब्रह्मपथस्य नेता महान् परमात्मेति, इयन्मात्रं प्रतिवक्तुमीशाः समर्था इत्यनेन यावती स्वशक्तिः भगवत्संस्तवने तावती सूरिभिर्निवेदिता। तत्र शुद्धिः क्वचित्पुरुषविशेषे परां काष्ठामधितिष्ठतीति प्रकृष्यमाणत्वात्परिमाणवत् तथा शक्तिः क्वचित्पुरुषविशेषे परां काष्ठामवाप्नोति प्रकृष्यमाणत्वात्परिमाणवदेवेति शुद्धिशक्त्योः प्रकर्षपर्यन्तं गमनं प्रतिवर्ण्यते न पुनर्ज्ञानं क्वचित्परां काष्ठां प्रतिपद्यत इति साध्यते। मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य च धर्मित्वे परस्य सिद्धसाध्यतानुषंगात् स्याद्वादिनश्च स्वेष्टसिद्धेरभावात्। अवध्यादिज्ञानत्रयस्य धर्मित्वे परेषां धर्म्यसिद्धिः। सर्वज्ञवादिनां साधनवैफल्यं तत्सिद्धेरिव साध्यत्वात्। ज्ञानसामान्यधर्मित्वेऽपि मीमांसकस्य सिद्धसाधनमेव चोदनाज्ञानस्य परमप्रकर्षप्राप्तस्य सिद्धत्वात्। शुद्धेस्तु धर्मित्वनिर्देशे नोक्तदूषणावकाशः परेषां तत्र विवादात् सिद्धसाध्यतानुषंगाभावात् वादिनः स्वेष्टसिद्धेरप्रतिबंधात् सर्वज्ञत्वसामान्यस्य प्रसिद्धेः।

ननु च यद्यहमेव महानिति प्रतिवक्तुं शक्यस्तदा मदीय-शासनस्यैकाधिपत्यलक्ष्मीः किमन्यतीर्थिभिरपोह्यते तदपवाद-हेतुः कश्चिदस्तीति चेत्सोऽभिधीयतामिति भगवत्प्रश्ने सूरयः आहुः—

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाशयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥ ५ ॥

तत्र शासनं सर्वमनेकांतात्मकं इति मतं तस्यैकाधिपति-त्वं सर्वैरवश्याश्रयणीयत्वमर्थक्रियार्थिभिरन्यथा तदनुपपत्तेस्त-देव लक्ष्मीः, निःश्रेयसाभ्युदयलक्ष्मीहेतुत्वाचास्यां प्रभुत्वं सकल प्रवादितिरस्कारित्वं तत्र शक्तिः सामर्थ्यं परमागमान्विता युक्ति-स्तस्याः संप्रत्यपवादहेतुर्बाह्यः साधारणः कलिरेव कालः सोऽ साधारणस्तु वक्तुर्वचनाशय एव, अन्तरंगस्तु श्रोतुः कलु-षाशय एव दर्शनमोहाक्रांतचेतः । सर्वत्र वाशब्द एवका-रार्थो द्रष्टव्यः पक्षान्तरसूचको वा, तेन कलिर्वा कालः चेत्रा-दिर्वा तथाविध इत्यवगम्यते । तथाचार्यस्य प्रवक्तुर्वचना-शयो वाऽनुष्ठानाशयो वेति ग्राह्यम् । तथा श्रोतुः कलुषाशयो वा जिज्ञासानुपपत्तिर्वा हेतुरपवादक इति प्रतिपत्तव्यः ॥

कीदृशं पुनर्मदीयशासनमित्यभिधीयते;—

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं
नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ ६ ॥

साकल्येन देशतो वा प्राणिहिंसातो विरतिर्दयाव्रतमनृतादिविरतेस्तत्रान्तर्भावात्। मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयेषु रागद्वेषविरतिर्दमः संयमः। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यजनं त्यागः। पात्रदानं वा। प्रशस्तं ध्यानं शुक्लं धर्म्यं वा समाधिः। दया च दमश्च त्यागश्च समाधिश्चेति द्वन्द्वे निमित्तनैमित्तिकभावनिबंधनः पूर्वोत्तरवचनक्रमः, दया हि निमित्तं दमस्य तस्यां सत्यां तदुपपत्तेः, दमश्च त्यागस्य, तस्मिन्सति तद्घटनात्, त्यागश्च समाधेस्तस्मिन्सत्येव विक्षेपादिनिवृत्तिसिद्धेरैकाग्र्यस्य समाधिविशेषस्योपपत्तेः, अन्यथा तदनुपपत्तेः। तेषु दयादमत्यागसमाधिषु निष्ठा तत्परता यस्मिन्मते तत् त्वदीयं मतं शासनमद्वितीयमेकमेव सर्वाधिनायकमित्यर्थः। कुतो मदीयं मतमेवंविधं सिद्धमिति चेत् "नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्" यस्मात्, नयौ च प्रमाणे च नयप्रमाणानीति द्वन्द्वे प्रमाणशब्दादभ्यर्हितार्थादपि नयशब्दस्याल्पाच्तरस्य छन्दोवशात्पूर्वनिपातो न विरुध्यते। प्रकर्षेण सर्वदेशकालपुरुषपरिषदपेक्षालक्षणेन कृतो निश्चित इत्यर्थः। अंजसा परमार्थेन प्रणीत आंजसोऽसंभवद्बाधक इति भावः। अर्थो जीवादिर्द्रव्यपर्यायात्मा। नयप-

माणैः प्रकृत आंजसोऽर्थोऽस्मिन्निति नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थं मतम्। नयप्रमाणैः सुनिश्चितासंभवद्बाधकविषयमित्यर्थः। तथाविधमपि कुतः सिद्धमिति चेत् यस्मादधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैरिति निवेद्यते। दर्शनमोहोदयपरवशैः सर्वथैकान्तवादिभिः प्रकल्पिता वादाः प्रवादाः सर्वथैकान्तवादास्तैरखिलैरखिलदेशकालपुरुषगतैरधृष्यमबाध्यमिति निश्चयः। कस्मात्तैः कल्पिता वादा न पुनः परमार्थावभासिन इति चेत्, यस्मात् त्वदीयमतादन्ये वाह्याः सम्यगनेकान्तमताब्धेर्बाह्या मिथ्यैकान्ता भवन्ति ते च कल्पितार्थाः प्रसिद्धास्तद्वादाः कथमिव परमार्थपथप्रस्थापकाः स्युर्यतस्तैरबाध्यं त्वदीयं मतं न स्यात्, न हि मिथ्याप्रवादैः सम्यग्वादो बाधितुं शक्योऽतिप्रसंगात्। ननु च द्रव्यार्थिकनयेन निश्चितोऽर्थो न पारमार्थिको मदीयमतस्य सिद्धः परेषां संभवद्बाधकत्वात्, पर्यायार्थिकनयैस्तु निश्चितार्थवत्। तथाहि— न जीवादिकद्रव्यमेकमनपायि वास्तवं क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। नहि द्रव्यस्य देशकृतस्तावत् कश्चित् क्रमः संभवति निष्क्रियत्वात्तस्य देशान्तरगमनायोगात्, सक्रियत्वे सर्वव्यापकत्वविरोधात्। नाऽपि कालकृतः शाश्वतिकत्वात्सकलकालव्यापित्वात् प्रतिनियतकालत्वे नित्यत्वविरोधात् द्रव्यत्वाघटनात्। स्वयमक्रमस्य सहकारिकारणक्रमापेक्षः क्रम इत्यप्यसारं, सहकारिभ्यःकंचिदप्यतिशयमनासादयतस्तदपेक्षानुपपत्तेरतिप्रसंगात्। सहकारिकृतमुपकारमात्मसात्कुर्वतः कार्यत्वप्रसंगादनित्यत्वापत्तेः। यदि तु

नित्यद्रव्यस्य कंचिदप्युपकारमकुर्वतामपि सहकारित्वमुररीक्रियते तेन सह संभूय कार्यकरणशीलानामेव सहकारित्वव्यवस्थितिरिति मतं, तदपि न नित्यद्रव्यस्य क्रमः सिद्ध्येत् तस्याक्रमत्वात्; सहकारिणामेव क्रमवत्त्वात् । सहकार्यपेक्षः क्रमोऽपि द्रव्यस्यैवेति चेत् न, तस्याऽपि देशकृतस्य कालकृतस्य वा विरोधात् । तथा क्रमेण सहकारिणमपेक्षमाणस्य कालभेदादनित्यत्वप्रसंगात् कार्येणाऽपि क्रमेणापेक्षमाणस्य भेदापत्तेः सहकारिविशेषवत् ततो न क्रमः सर्वथा द्रव्यस्य संभवति । नाऽपि यौगपद्यं युगपदेकस्मिन्समये सकलार्थक्रियानिष्पादनाद् द्वितीयसमयेऽनर्थक्रियाकारित्वेनाऽवस्तुत्वप्रसंगात्; निष्पादितनिष्पादनप्रसंगाद्वा । तदेवं द्रव्यान्नित्यात्मकात् क्रमयौगपद्ये निवर्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियां निवर्तयतः, सा च निवर्त्तमाना वास्तवत्वमिति व्यापकानुपलब्धेर्बाधिकायाः संभवान्नासंभवद्बाधकत्वं द्रव्यस्य सिद्धं सौगतानां । नाऽपि पर्यायस्य क्षणिकस्यासंभवद्बाधकत्वं सिद्ध्यति तत्राऽपि व्यापकानुपलंभस्य बाधकस्य संभवात् । तथाहि—पर्यायो न वास्तवोऽर्थक्रियानुपलंभात् , न तत्रार्थक्रियोपलंभः क्रमयौगपद्यविरोधात् , न तत्र क्रमयौगपद्ये संभवतः परिणामानुपलब्धेः, न तत्र परिणामोऽस्ति पूर्वोत्तराकारव्यापिद्रव्यस्थितेरनुपलब्धेः , न तत्र पूर्वोत्तराकारव्यापिद्रव्यस्थितिरस्ति प्रतिक्षणमुत्पादानन्तरं निरन्वयविनाशाभ्युपगमात् । न च तत्र कस्यचित्कुतश्चिदुत्पत्तिर्घटते , सति कारणे कार्यस्योत्पत्तौ क्ष-

णभंगप्रसंगादसति कारणे कार्यस्योदये विनष्टतमस्य भविष्यत्तमस्य च कारणत्वप्रसंगस्तस्मिन्नप्यसति कार्यस्योदयात्। एतेन स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तिरिति पक्षान्तरमप्यपास्तम्। कारणत्वेनाभिमतस्यापि स्वाकाले सत्त्वोपपत्तेः। तदित्थं नयनिश्चितोऽर्थो न पारमार्थिकः शासनस्य संभवद्बाधकत्वात्तैमिरिकज्ञाननिश्चितेन्दुद्वयवत्। तथा प्रमाणप्रकृतोऽप्यर्थो द्रव्यपर्यायात्मको नांजसः सिद्धयेत्, तत एव तद्वत् स हि येनात्मना नित्यस्तेनैवात्मनाऽनित्यश्चेद्विरोधो बाधकः, स्वभावांतरेण चेद्वैयधिकरण्यं तस्य प्राप्तं परस्परविरुद्धयोर्नित्यानित्यात्मनोरेकाधिकरणत्वादर्शनात्, क्वचिद्देशे शीतोष्णस्पर्शवत्, तयोरेकाश्रयत्वे वा युगपदेकेनैवात्मना नित्यानित्यत्वयोः प्रसक्तेः संकरः स्यात्। येनात्मना नित्यत्वमिष्टं तेनानित्यत्वमेव, येन चानित्यत्वं तेन नित्यत्वमेवेति परस्परगमनात् व्यतिकरः, अयमात्मानं पुरोधाय नित्यो जीवादिरर्थः कथ्यते, एवं पुरोधायानित्यस्तौ यदि ततोऽर्थान्तरभूतौ, तदा वस्तुत्रयप्रसंगस्तानि च त्रीण्यपि वस्तूनि यदि नित्यानित्यात्मकानि तदा प्रत्येकं पुनर्वस्तुत्रयप्रसंग इति अनवस्था स्यात्। यदि तु तौ ततोऽनर्थान्तरभूतौ तदा जीवाद्यर्थ एव न तावात्मानौ तदभावात्ते न नित्याश्चानित्याश्च व्यवस्थाप्यंते, तावेव चात्मानौ न ततोऽपरोऽर्थः स्यादिति कस्यचिन्नित्यत्वानित्यत्वे तौ साधयेयातां। स्वयमेव तौ नित्यानित्यौ स्यातामिति चेत्तर्हि यो नित्यः स नित्य एव, यश्चानित्यः सोऽनित्य

श्चेति प्राप्तं, तथा चोभयदोषानुषंगः सर्वथैकस्य नित्यानित्यात्मकस्यार्थस्याप्रतिपत्तिप्रसंगः। दृश्यतयोपगम्यमानस्य च सर्वथाऽनुपलब्धेरभावप्रसंगः तस्यादृश्यत्वप्रतिज्ञाने चादृष्टपरिकल्पनमनुषज्येतेत्यनेकबाधकोपनिपातान्न प्रमाणनिश्चितोऽर्थः शासनस्यांजसः स्यादाकाशकेशपाशप्रकाशकशासनवत् तैमिरिकस्येति कथं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थं मदीयं मतं स्यादन्यैरखिलैः प्रवादैः सौगतादिभिः धृष्यमाणत्वात्तत एव न दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं सर्वथा संभवद्बाधकस्य जीवस्य दयादिचतुष्टयासंभवात् तद्विषयस्य दयादिनिष्ठत्वासिद्धेस्तथा च कथमद्वितीयं सर्वाधिनायकत्वानुपपत्तेरिति वदन्तमिव भगवन्तं विज्ञापयन्तः सूरयः प्रमाणनयप्रकृतं पारमार्थिकं तत्त्वं साधयन्ति—

अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतंत्रान्यतरत् खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः
संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥७॥

टीका—अभेदो द्रव्यं नित्यं, भेदः पर्यायो नश्वरस्तावात्मानौ यस्य तदभेदभेदात्मकं तव भगवन् ! अर्थतत्त्वं जीवादितत्त्वं परस्परतंत्रं द्रव्यपर्यायात्मकमित्यभिधीयते अस्माभिर्न पुनः स्वतंत्रं द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा तदुभयं वा विज्ञाप्यते तस्य खपुष्पसमत्वात्, प्रतिपादितक्रमेण संभवद्बाधकस्यास्माभिरपीष्टत्वाद्वास्तवत्वानुपपत्तेः, नयप्रकृतस्य प्रमाण-

प्रकृतस्य वाऽर्थस्य जात्यंतरस्यांजसस्य त्वदीयमतेन स्वीकरणादद्वितीयमेव तवेदं मतमनुमन्यामहे ततोऽन्यैरखिलैः प्रवादैरधृष्यत्वसिद्धेः ।

ननु चास्तु स्वतंत्रं द्रव्यमेकं खपुष्पसमानं प्रत्यक्षादिभिरनुपलभ्यमानत्वात् क्षणिकपर्यायवत् तदुभयं तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपं सत्तत्त्वं प्रागभावादिरूपमेवासत्तत्वं स्वतंत्रमपि कथं खपुष्पवत् स्यात्तस्य द्रव्यादिप्रत्ययविशेषविषयस्य सकलजनप्रसिद्धत्वादिति चेत्, न कारणकार्यद्रव्ययोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतोः सामान्यतद्वतोर्विशेष्यतद्वतोश्च पदार्थान्तरतया स्वतंत्रयोः सकृदप्यप्रतीयमानत्वात्सर्वदावयवावयव्यात्मनोर्गुणगुण्यात्मनः कर्मतद्वदात्मनः सामान्यविशेषात्मनश्चार्थतत्त्वस्य जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादितः सर्वस्य निर्बाधमवभासनात् ।

स्यान्मतं, परस्परनिरपेक्षमपि पदार्थपंचकं समवायसंबंधविशेषवशात् परस्परात्मकमिवावभासतेऽनुत्पन्नब्रह्मतुलाख्यज्ञानातिशयानामस्मादृशामिति । तदपि न परीक्षाक्षमं सर्वदाऽस्मदादिप्रत्यक्षस्य भ्रांतत्वप्रसंगात्तत्पूर्विकानुमानादेरपि प्रमाणत्वानुपपत्तेरप्रमाणभूतात्प्रत्ययविशेषात्पदार्थविषयव्यवस्थापनासंभवात् ; तथाऽभ्युपगम्यापि पर्यनुयुंज्महे—अवयवावयव्यादीनां समवायवृत्तिः पदार्थान्तरभूता ततो वृत्तिमती वा स्यादवृत्तिमती वा ? न तावत् प्रथमकल्पना संभवति तत्र संयोगवृत्तेरयोगात्तस्या द्रव्यवृत्तित्वादन्यथा गुणत्ववद्विरोधात् । न समवायवृत्तिः समवाया

न्तरस्यानभ्युपगमात् विशेषणभावस्यापि वृत्तिविशेषस्य स्वतंत्रपदार्थाविषयत्वादन्यथातिप्रसंगात् सह्यविंध्ययोरपि विशेषणविशेष्यभावानुषंगात्। संभवंती वा विशेषणभावाख्या वृत्तिमद्भ्यो ऽर्थान्तरभूता वृत्त्यंतरानपेक्षा न जाघटीति तद्वृत्त्यंतरापेक्षायामनवस्थानात् कुतो वृत्तिर्व्यवस्थिता स्याद्यया समवायवृत्तिर्वृत्तिमतीष्यते। यदि पुनरवृत्तिमतीति कल्पनोत्तरा समाश्रियते तदाप्यवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः संसर्गहानिः सकलार्थानामनुषज्यमाणा महेश्वरेणापि निवारयितुमशक्यापनीपद्येत। यदि पुनः स्वभावतः सिद्धः संसर्गः पदार्थानामन्योन्यं न पुनरसंस्पृष्टानां समवायवृत्त्या संसर्गः क्रियते समवायसमवायिवदिति मतांतरमुररीक्रियते तदा स्याद्वादशासनमेवाश्रितं स्यात् स्वभावत एव द्रव्यस्य गुणकर्मसामान्यविशेषैःशेषैः कथंचित्तादात्म्यमनुभवतः प्रत्ययविशेषवशादिदं द्रव्यमयं गुणः कर्मेदं सामान्यमेतत् विशेषोऽसौ तत्संबंधोऽयमविष्वग्भावलक्षणः समवाय इत्यपोद्धृत्य सन्नयनिबंधनो व्यवहारः प्रवर्त्तत इत्यनेकान्तमतस्य प्रसिद्धत्वात्; स्वतः परतो वार्थानां संसर्गहानौ तु सकलार्थहानिः स्यात्, तामनिच्छद्भिरभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं परस्परतंत्रं प्रातीतिकमर्थक्रियासमर्थं सामर्थ्यात् समर्थनीयं तत्र विरोधानवकाशात्तत्रोपलंभस्याबाधितस्य सद्भावात् तद्विरोधस्य वाऽनुपलंभलक्षणत्वात्सुदूरमप्यनुसृत्य सर्वैः प्रवादिभिरेकस्य वस्तुनोऽनेकात्मकस्याश्रयणीयत्वात् योगैः सामान्यविशेषवत्; न हि सामान्यविशेष एक एवानुवृत्तिव्यावृत्तिप्रत्ययजननशक्तिद्वयात्मको

नेष्यते। स्वसमयविरोधाच्छक्तिद्वयस्य ततो भेदो नैकोऽनेकात्मक इति चेत् न, तस्य निःशक्तिकत्वप्रसंगात्। तस्य शक्तिभ्यां संबंधान्न निःशक्तिकत्वमिति चेत्तर्हि तस्य शक्तिभ्यां संबन्धौ स्वीकुर्वतः कथमनेकात्मकं न स्यात्। तत्संबंधयोरपि ततो भेदे तदेव निःशक्तिकत्वं ताभ्यामपि संबंधाभ्यामन्ययोः संबंधयोः परिकल्पनायामनवस्था स्यात्। तदसत्, तत्संबंधात्मकत्वोपगमे शक्तिद्वयात्मकत्वमेवास्तु शक्तिशक्तिमतोः कथंचित्तादात्म्यात्, तथा च सामान्यविशेष एवैकोऽनेकान्तात्मके वस्तुनि विरोधं निरुणद्धीति किं नश्चिन्तया, तद्वद्वैयधिकरण्यादिदूषणकदंबकमपि ततो दूरतरं समुत्सारयतीति कृतं प्रयासेन; स्वयं मेचकज्ञानं चैकानेकं प्रतिभास स्वीकुर्वन् कथमनेकान्तं निरसितुमुत्सहते सचेतनः। मेचकज्ञानमेवेत्ययुक्तं तस्य नानास्वभावत्वाभावेऽनेकार्थग्राहित्वविरोधात्; नानार्थग्रहणस्वभावोऽप्येकएव तस्येष्यते सत्त्वादिसामान्यस्य नानाव्यक्तिव्यापकैकस्वभाववदिति चेत्, न तथा परं प्रति साध्यत्वात् सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिंगाभावादेकं सत्त्वसामान्यमेकस्वभावं सिद्धं तद्वत् द्रव्यादिसामान्यं द्रव्यत्वादिप्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्चेति चेत्, न सत्त्वद्रव्यादिप्रत्ययस्य प्रतिव्यक्तिविशेषसिद्धेः सत्त्वद्रव्यत्वादिसामान्यस्यानेकत्वव्यवस्थितेः। इदं च सदिदं च सदिति समाने इमे सती तथा समाने द्रव्ये गुणौ कर्मणी चेति समानप्रत्ययात् समानपरिणामस्य प्रतिव्यक्ति व्यक्त्यंतरापेक्षया प्रभिद्यमानस्य निर्बाधबोधाधिरूढत्वात्। तत्र वृत्तिविकल्पानवस्थादिबाधकस्यानवका-

शात्। ननु च समानपरिणामेषु समानप्रत्ययात् समानपरिणामा-
न्तरप्रसंगादनवस्थानं बाधकमत्रास्त्येवेति चेत्, न समानपरिणा-
मानां व्यक्तिष्वेव स्वेष्वपि समानप्रत्ययहेतुत्वादनवस्थानुपपत्तेः
स्वयं व्यक्तयस्तथा समानप्रत्ययहेतवः सन्तु किं समानपरिणा-
मकल्पनयेत्यप्यनालोच्याभिधानं कर्कादिव्यक्तीनामपि गोप्र-
त्ययहेतुत्वप्रसंगात् । गोरूपेण समानेन परिणता एव खंडादि-
व्यक्तयो गोप्रत्ययहेतव इति चेत्, सिद्धः समानपरिणामोऽनेकः
प्रतिव्यक्तिभेदप्रतीतेः । नहि गोत्वं सामान्यमेकं तत्समवा-
यात् खंडादिषु गोप्रत्यय इति व्यवस्थापयितुं शक्यं कर्कादि-
व्यक्तिष्वपि तत्समवायात् गोप्रत्ययत्वप्रसंगात् । न च सर्व-
व्यक्तिभ्यः सामान्यस्य समवायस्य च सर्वथा भेदेऽपि खंडा-
दिव्यक्तिष्वेव गोत्वं समवैति न पुनः कर्कादिष्विति युक्तमु-
त्पश्यामः । इह खंडादिषु गोत्वमिति सत्प्रत्ययाविशेषात्खंडा-
दिष्वेव गोत्वस्य समवाय इति चेत्, तर्हि न नासमवायः
सिद्धः प्रतिसमवायिप्रत्ययभेदात् समवायिन एव नानासम-
वायस्तत्त्वंभावेन व्याख्यातमिति वचनात् । सत्तावत्तदेकत्वप्र-
सिद्धेरिति चेत्, नैकस्य निरंशस्य देशकालभिन्नसमवायिषु
सर्वथेहेदमिति प्रत्ययहेतुत्वविरोधात् संयोगस्याप्येकस्यानंशस्य
संयोगिषु संयुक्तप्रत्ययहेतुत्वप्रसंगात् तथा चैक एव समवा-
यवत् संयोगः स्यादिति यौगमतमतिवर्त्तते । यदि पुनर्नाना
संयोगः शिथिलः संयोगो निविडः संयोग इति विशेषप्रत्य-
यान्मन्यध्वं तदा नित्यः समवायो नश्वरः समवाय इति प्रत्य-

यभेदात् समवायोऽपि । नानावस्तुसमवायिनोरनित्यत्वात्स चेत् तर्हि संयोगिनोः शिथिलत्वात्संयोगः शिथिल इत्युपचर्येतां परमार्थतस्तस्य निबिडरूपत्वात् । नानासंयोगो युतसिद्धद्रव्याश्रयत्वाद्विभागवदिति चेत् न, द्रव्यत्वेन परस्परव्यभिचारात् तथा समवायो नाना स्यादयुतसिद्धावयवावयविद्रव्याश्रयत्वाद् द्वित्वसंख्यावदित्यपि शक्यं वक्तुं । समवायस्यानाश्रयत्वादसिद्धोत्र हेतुरिति चेत्, न षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति वचनविरोधात् । समवायस्योपचारादाश्रितत्वसिद्धेस्तथा वचनं न विरुध्यते समवायिनोः सतोरेवेहेदमिति प्रत्ययोत्पादस्योपचारकारणस्य सद्भावादिति चेत्, कथमेवमवयवावयविद्रव्याश्रयत्वात् इति हेतुरसिद्धः स्यात् तस्योपचारानुपचारानपेक्षयाश्रितत्वात्, सामान्यरूपत्वेनाभिधानात् । परमार्थतोऽनाश्रितत्वेऽपि एतदभिधीयते-नानासमवायो नाश्रितत्वात् परमाणुवदिति । नन्वेवं वदन् समवायं धर्मिणं प्रपद्यते चेत्, कालात्ययापदिष्टो हेतुश्च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् । न प्रतिपद्यते चेदाश्रयासिद्धो हेतुरित्यपि न दूषणं समवायस्याविष्वग्भावसंबंधस्य कदाचित्तादात्म्यलक्षणस्यैकत्वानेकत्वाभ्यां विवादापन्नस्य प्रतिपत्तेर्धर्मिग्राहकप्रमाणान्तरैकत्वासिद्धेस्तेन बाधाऽनुपपत्तेः कालात्ययापदिष्टत्वायोगात् । तदेकत्वसाधनस्य च प्रमाणस्यासंभवात् सत्प्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात् । कालादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न तेषामपि कथंचिन्नानात्वसिद्धेः कालस्यासंख्येयद्रव्यत्वात्खस्यानंतप्रदेशत्वात्

स्याद्वादिनां मते, ततः समवायस्य नानात्वप्रसिद्धौ च सामान्यस्य प्रतिव्यक्तिसमवायं कथंचित्तादात्म्यं प्रतिपद्यमानस्य नानात्वसिद्धिर्नानाव्यक्तितादात्म्येन स्थितत्वात् व्यक्तिस्वरूपवदिति नैकस्वभावं सामान्यं सत्वं द्रव्यत्वादि वा परमपरं वा सिद्धं यत इदमुच्यते नानाव्यक्तिव्यापकैकस्वभावसामान्यवन्नानार्थग्राहकैकस्वभावं मेचकज्ञानमिति । नानास्वभावत्वे तु मेचकज्ञानस्यैकस्य तदेवाभेदभेदात्मकं वस्त्वेकानेकात्मकं नित्यानित्यात्मकं साधयेत् सकलविरोधादिबाधकपरिहरणसमर्थत्वात् सौगतानां च वेद्यवेदकाकारसंवेदनं तत्त्वमेकमनेकात्मकं साधयत्येव । वेद्यवेदकाकारयोर्भ्रांतत्वे संवेदनस्य चाभ्रान्तत्वे भ्रान्तेतराकारमेकं संवेदनं, भ्रान्ताकारस्य चासत्त्वे संविदाकारस्याभ्रान्तस्य सत्वे सदसदात्मकमेकं, विषयाकारविवेकितया परोक्षत्वे संविद्रूपतया प्रत्यक्षत्वे परोक्षप्रत्यक्षाकारमेकं विज्ञानं कथं निराकुर्युः यतोऽनेकान्तसिद्धिर्न भवेत् । कपिलानां तु तत्त्वमेकं प्रधानं सत्त्वरजस्तमोरूपं सर्वथैकान्तकल्पनां शिथिलयत्येव । तस्यैवानेकान्तात्मकवस्तुसाधनत्वात् । सत्त्वादीनामेव साम्यमापन्नानां विनिवृत्तप्रसवप्रवृत्तीनां प्रधानव्यपदेशात् । तद्व्यतिरिक्तप्रधानाभावान्नैकमनेकान्तात्मकमिति चेत् नैकप्रधानाभ्युपगमविरोधात् प्रधानत्रयसिद्धेः । सर्वसंहारकाले प्रधानमेकमेवाद्वयं न सत्त्वादयस्तेषां तत्रैव लीनत्वादिति चेत्, कथमेकस्मादनेकाकारं महत् प्रजायेतातिप्रसंगात् । सुखदुःखमोहशक्तित्रयात्मकत्वात्प्रधानस्य न दोष इति चेत्,

कथमेवमेकमनेकशक्त्यात्मकं प्रधानमनेकांतं न साधयेत्, भोक्तृत्वाद्यनेकधर्मात्मकपुरुषतत्त्ववत्। भोक्तृत्वादीनामवास्तवत्वादेकमेव पुरुषतत्त्वमिति चेत्, न वास्तवावास्तवत्वसिद्धेः, पुरुषस्यानेकत्वानिवृत्तेः। तस्यावास्तवधर्मरूपेणासत्वान्नानेकरूपत्वमिति चेत्, न तथा सदसदात्मकतयाऽनेकांतसिद्धेः। ततो भगवतो जिनस्य मतमद्वितीयमेव नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थत्वादखिलैः प्रवादैरधृष्यत्वाच्च व्यवस्थितमिति योगमतस्यैव सदोषत्वसिद्धेरखिलार्थहानिर्व्यवतिष्ठते।

इतश्च सकलार्थहानिर्योगानामित्यभिधीयते—

भावेषु नित्येषु विकारहाने-
र्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
न बंधभोगौ न च तद्विमोक्षः,
समंतदोषं मतमन्यदीयं ॥८॥

टीका—दिक्कालाकाशात्ममनःसु पृथिव्यादिपरमाणुद्रव्येषु परममहत्त्वादिषु गुणेषु सामान्यविशेषसमवायेषु च भावेषु नित्येष्वेवाभ्यनुज्ञायमानेषु विकारस्य विक्रियाख्यस्य हानिः प्रसज्येत। विकारहानेश्च न कारकव्यापृतं कर्त्रादिकारकव्यापारस्य विक्रियापाये संभवाऽभावात्। क्रियाविष्टं द्रव्यं कारकमिति प्रसिद्धेः। कारकव्यापृताभावे च न कार्यं द्रव्यगुणकर्मलक्षणं प्रतिष्ठामियर्तीति। तदप्रतिष्ठायाञ्च न युक्तिरनुमानलक्षणानुबंधे साध्ये तस्याः कार्यलिंगत्वात्तदभावे चाप-

त्वनात्। बंधाभावे च भोगः फलं न भवति। नाऽपि तद्विमो-
क्षस्तस्य बंधपूर्वकत्वादिति सकलार्थहानिः स्यात्। भावानामभावे प्रागभावादीनामप्यसंभवात्तेषां भावविशेषणत्वात्स्वतंत्राणामनुपपत्तेः। एतेन मीमांसकानां शब्दात्मादिषु भावेषु नित्येषु प्रतिज्ञायमानेषु विकारहानेः कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः प्रत्याख्याता, तन्निबन्धनौ च बंधभोगौ, तद्विमोक्षश्चानंदात्मकब्रह्मपदावाप्तिरूपः प्रतिक्षिप्तः। कथंचिदभेदभेदात्मकत्वे तु भावानामभ्युपगम्यमाने स्याद्वादाश्रयणं नित्यत्वैकांतविरोधप्रातीतिकमवश्यं भावि दुर्निवारं इति समंतदोषमन्यदीयमन्येषां वैशेषिकनैयायिकानां मीमांसकानाञ्चेदमन्यदीयमिति प्रतिपत्तव्यम्। अथवा कापिलानां मतमन्यदीयं समन्तदोषमिति व्याख्यायते समन्तात् देशकालपुरुषविशेषापेक्षयाऽपि सर्वतः प्रत्यक्षानुमेयागमगम्येषु सर्वेषु स्थानेषु सर्वत इति ग्राह्यं समन्तात् दोषो बाधकं प्रमाणं यस्मिंस्तत्समन्तदोषं, तच्चान्यदीयं मतं न त्वदीयमिति भावः। कथं तत्समन्तदोषमित्युच्यते? यस्माद्भावेषु नित्येषु निरतिशयेषु पुरुषेषु सांख्यैरभिमतेषु निर्विकारस्य पुरुषार्थप्रधानप्रवृत्तिविक्रियालक्षणस्य हानिः प्रसज्यते। स हि प्रधानस्य विकारो महदादिः पुरुषार्थो भवतु, पुरुषस्य कंचिदुपकारं करोति वा न वा? यदि करोति तदा पुरुषादनर्थान्तरमर्थान्तरं वा। ततोऽनर्थान्तरं चेत्, तमेव करोतीति कार्यत्वप्रसंगात् पुंसो नित्यत्वविरोधः। ततोऽर्थान्तरं चेन्न तस्य किंचित्कृतं स्यादिति कथं पुरुषार्थः प्रकृतेर्विकारः

-स्यात् । प्रकृतिकृतविकारोपकारेण पुरुषस्योपकारान्तरकरणेऽ-नवस्थाप्रसंगात् । ननु च न पुरुषस्योपकारकरणान्महदादिः पुरुषार्थोऽभिधीयते सांख्यैर्नापि पुरुषेण तस्योपकारसंपादनात् सर्वथा तस्योदासीनत्वात् । किं तर्हि पुरुषेण दर्शनात् पुरुषार्थः कथ्यते । पुरुषभोग्यत्वादिति केचित्, तेऽपि न परीक्षकाः सर्वथोदासीनस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वविरोधात् दृश्यस्य भोग्यत्वायोगात् । ननु च वीतरागसर्वज्ञदर्शनवत् पुंसो विषयदर्शनं भोगः, स च शुद्धस्यात्मनः संभवत्येव रागादिमलाभावात् । तद्विषयस्य च भोग्यत्वं निर्विषयस्य भोगासंभवात्ततः सर्वथोदासीनस्यापि भोक्तृत्वं न विरुध्यते इति चेत् न, परिणामित्वप्रसंगात् स्याद्वादिनः सर्वज्ञवत्, स हि सर्वज्ञः पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोत्पादनाभ्यामवस्थितस्वभावः परिणाम्येव सर्वार्थान्पश्यति नान्यथा, प्रतिसमयं दृश्यस्य परिणामित्वे द्रष्टुरपरिणामानुपपत्तेर्न चायं दृश्यमर्थमपरिणामिनं वक्तुं समर्थः स्वयं तस्य परिणामित्वोपगमात् सिद्धांतपरित्यागानुषंगात् । चिच्छक्तिरपरिणामिन्येति चेत्, नादर्शितविषयत्वत्यागेन दर्शितविषयत्वोपादानादवस्थितताया एव तस्याः परिणामित्वसिद्धेः । एतेनाप्रतिसंक्रमत्वादपरिणामिनी चेतनेति प्रत्युक्तं । प्रतिविषयं दर्शितविषयत्वे संक्रमात् तथा बुद्धेरेव प्रतिसंक्रमो न तु चिच्छक्तेरिति चेत्, न बुद्धेरप्यप्रतिसंक्रमप्रसंगात् विषयस्यैव प्रतिसंक्रमप्रसंगात्, बुद्ध्यावसीयमानस्य विषयस्य प्रतिसंक्रमे बुद्धेः कथमप्रतिसंक्रम इति चेत्, तर्हि बुद्धेः प्रतिदर्शि-

कायाः प्रतिसंक्रमे तद्विषयस्य चितिशक्तिः कथमप्रतिसंक्र-मेति चिन्त्यं, यथैव हि विषयं प्रतिनियतं दर्शयन्ती बुद्धिश्चितिशक्तये संक्रामति तथा क्रमेण चितिशक्तिरपि पश्यंती विशेषाभावात कथमन्यथा क्रमेण दर्शितविषया स्यात्। चिच्छक्तिरप्रतिसंक्रमैव सर्वदा शुद्धत्वादिति चेत्, न शुद्धात्मनोऽपि स्वशुद्धपरिणामं प्रतिसंक्रमाविरोधात्तत्राशुद्धपरिणामसंक्रमस्यैवासंभवात्। शुद्धपरिणामेन पि चितिशक्तिरप्रतिसंक्रमानंतत्वादिति चेत्, न प्रकृत्या व्यभिचारात्। साऽपि ह्यनंता सांतत्वेऽपि नित्यत्वविरोधात्। प्रकृतेर्महदादिपरिणामसद्भावात्प्रतिसंक्रमः सिद्ध्येन्न पुनश्चिच्छक्तेरपरिणामित्वादिति चेत्, न तस्या अपि दृश्यदर्शनपरिणामसद्भावसिद्धेः। एतेन चिच्छक्तेरप्रतिसंक्रमे साध्ये परिणामरहितत्वे सत्यनंतत्वादिति हेतोरसिद्धत्वं व्यवस्थापितम्।

स्यान्मतं, चिच्छक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा शुद्धत्वे सत्यनंतत्वात्परसंग्रहविषयसत्तावदिति। तदप्यसत्। सत्ताया गुणीभूतपरिणामसंक्रमाया एव परसंग्रहविषयायाः स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात् साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। न हि निराकृतपरिणामसंक्रमं किंचिद् द्रव्यं द्रव्यार्थिकनयं प्रत्यापयति दुर्नयत्वप्रसंगात् ब्रह्मवादवत्। नाऽपि स्वपरिणामभिन्नमुपचरितपरिणामसंक्रमसुररीक्रियते, यतस्तदुदाहरणीकृत्य चिच्छक्तिस्तथाविधा साध्येति। ननु च परेषां दृश्यस्य द्रष्टुरत्यंतभेदात् दृश्ये परिणामिनि प्रतिसंक्रमो द्रष्टुरिति चिच्छक्तिलक्षणे शुद्धात्मनि उप-

चर्यते तुयोः संसर्गाश्चेतनस्य दर्शितविषयत्वोपगमात् ततो न परमार्थतो परिणामप्रतिसंक्रमं नं प्रतिषेद्धुमुचितमिति चेत् तर्हि दर्शितविषयत्वस्योपचरितत्वे दर्शनमनुपचरितमात्मनः प्रसज्येत, अथ दर्शनभेदस्तत्रोपचरित एव भिन्नस्य दर्शनस्य दृशिशक्तिरूपस्य वास्तवत्वादिति मतं तदपि न सम्यक्। दृशिशक्तेः स्वभावभेदमन्तरेण नानाविधदृश्यदर्शनविरोधात् तद्दर्शितविषयस्वभावभेदस्य पारमार्थिकस्यैव सिद्धेः।

स्यान्मतं चिच्छक्तेरेक एवाभिन्नः स्वभावोऽभ्युपगम्यतेऽस्याभियेन यो यदा यत्र यथा दृश्यपरिणामो बुद्ध्याध्यवसीयते तं तदा तत्र तथा पश्यतीति दर्शितविषयत्वेपि तस्याः प्रतिविषयं न स्वभावभेद इति। तदप्यसंभाव्यं, तथा बुद्धेरप्येव स्वभावत्वप्रसंगात्। शक्यं हि वक्तु बुद्धेरेक एव क्रमभाव्यनेकविषयव्यवसायस्वभावो येन यथाकालं यथादेश यथाप्रकारं च विषयमध्यवस्यतीति न किंचिदनेकस्वभावं सिध्येत्तथेन्द्रियमनोऽहंकाराणामपि विषयालोचनसंकल्पनाभिमननैकस्वभावत्वप्रसंगात्। तन्मात्रभूतानामपि नानास्वकार्यकरणैकस्वभावत्वोपपत्तेः। कस्यचिदनेकशोऽनेककार्यहेतोरनेकक्रियाशक्तिस्वभावत्वेचिच्छक्तेरपि नानादृश्यदर्शनक्रियास्वभावनानात्वं कथमपाक्रियेत। तथा च न चिच्छक्तिर्निरतिशयैकनित्यस्वभावा सिध्यति तत्र दर्शितविषया यतस्तदर्थो बहुधाऽनेकविकारो महदादिः स्यादिति नित्येषु भावेषु प्रकृतिपुरुषेषु विकारहानिः सिद्धा। विकारहानेश्च न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः। करोति

इति कारकं कर्तृप्रधानं तस्य व्यापृतं व्यापारः, कार्यं महदादि व्यक्तं, युक्तिर्योगः संबंधः संसर्गः कारकव्यापृतं च कार्यं च ताभ्यां युक्तिः पुरुषस्य संसर्गो न स्यात्। तथा कारकत्वेनाभिमतं प्रधानं न महदादिकार्यकारि निर्व्यापारत्वात् पुरुषवत्। निर्व्यापारं तत् सर्वथाविक्रियाशून्यत्वात् तद्वत्। विकाररहितं प्रधानं नित्यत्वादात्मवदिति न कारकव्यापृतकार्ययोर्व्यवस्था। तदभावे च न ताभ्यां युक्तिः पुरुषस्य सिद्ध्येत्, तदसिद्धौ च न बंधभोगौ स्यातां मुक्तात्मवत्, प्रधानव्यापारकार्यायोगे हि न धर्माधर्माभ्यां प्रकृतेर्बंधः संभवति, तदसंभवे च न तत्फलं सुखदुःखं यस्य भोगो दर्शनं पुरुषस्य स्यात्तदभावे न तद्विमोक्षः प्रधानस्य सिद्ध्येद्बंधाभावे मोक्षानुपपत्तेः, बंधपूर्वकत्वाद्विमोक्षस्येति समंतदोषं मतमन्यदीयं सिद्धम्। "स्यान्मतं नित्येष्वप्यात्मादिषु भावेषु स्वभावत एव विकारः सिद्ध्येत् ततः कारकव्यापारः कार्यं च तद्युक्तिश्चोपपद्यते इति सकलदोषासंभव एवेति तदपि न परीक्षाक्षममित्याहुः—

> अहेतुकत्वं प्रथितः स्वभाव-
> स्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रमः स्यात्।
> आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धि-
> र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥ ९ ॥

टीका—स्वभाववादी तावदेवं प्रष्टव्यः—किमयं स्वभावो निर्हेतुकत्वं प्रथितः? किमुत आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धिरिति?

निर्हेतुकत्वं प्रथितः स्वभाव इति चेत्, तर्हि ज्ञप्त्युत्पत्तिलक्षणायाः क्रियायाः प्रतीयमानाया विभ्रमः स्यात्स्वभावत एव भावानां ज्ञानादाविर्भावाच्चान्यथा निर्हेतुकत्वासिद्धेः । क्रियाविभ्रमे च कारकस्य सकलस्य प्रतिभासमानस्य विभ्रमो भवेत्, क्रियाविशिष्टस्य द्रव्यस्य कारकत्वप्रसिद्धेः क्रियायाः कारकानुपपत्तेः । न च क्रियाकारकविभ्रमः स्वभाववादिभिरभ्युपगंतुं युक्तो वादान्तरप्रसंगात् । अस्तु सर्वविभ्रमैकान्तो वादान्तरमिति चेत्, तर्हि विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा स्यात् ? यद्यविभ्रमस्तदा न विभ्रमैकांतः सिध्येत् तत्राऽपि विभ्रमे सर्वत्राभ्रान्तिसिद्धिः सर्वत्र विभ्रमे विभ्रमस्य सर्ववास्तवस्वरूपत्वात् ततो वादान्तरं किं तदसूयतां ते तव भगवतः स्याद्वादभानोः असूयतां विद्विषां विभ्रमैकान्तस्यापि वादान्तरस्यासंभवान्न किंचिद्वादान्तरमस्तीति वाक्यार्थः । अथ नाहेतुत्वं प्रथितः स्वभावोऽभ्युपगम्यते किं त्वाबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धिः प्रथितः स्वभाव इति निगद्यते तर्हि सैवाबालसिद्धेर्निर्णीतिर्नित्याद्येकांतवादाश्रयणे न संभवति यतः सर्वेषामर्थानां कार्याणां कारणानां वा सिद्धिः स्यात् । न च प्रत्यक्षादिप्रमाणतो विविधार्थसिद्धेरसंभवे परेषां पर्यनुयोगे स्वभाववादावलंबनं युक्तमतिप्रसंगात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणसामर्थ्यात् विविधार्थसिद्धिः स्वभाव इति वचने कथमिव स्वभावैकांतवादः सिध्येत् । स्वभावस्य स्वभावत एव व्यवस्थितेस्तस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसामर्थ्यात् व्यवस्थापितत्वात्, वादान्तरं तु किं तत्

तेऽसूयतां स्यात्? तव सुहृदामेव वादान्तरं सम्यगनेकांतवादरूपं प्रसिध्येत् न तु तव प्रतिपक्षाणां मिथ्यैकांतवादिनामित्यर्थः । किं च नित्यैकान्तवादिनः किमात्मतत्त्वं देहादनन्यदेव वदेयुरन्यदेव वा? प्रथमकल्पनायां संसाराभावः प्रसज्येत, देहात्मकस्यात्मनो देहरूपादिवद्भवांतरगमनासंभवात्तद्वत् एव विनाशप्रसंगात्, नित्यत्वविरोधाच्चार्वाकमताश्रयणप्रसंगश्च । स च प्रमाणविरुद्ध एवात्मतत्त्ववादिनोऽनिष्टश्च । द्वितीयकल्पनायां तु देहस्यानुग्रहोपघाताभ्यामात्मनः सुखदुःखे न स्यातां स्वदेहादप्यात्मनोऽन्यत्वाभिनिवेशात् देहान्तरवत् , सुखदुःखाभावे च नेच्छाद्वेषौ, तदभावे च धर्माधर्मौ न संभवत इति स्वदेहेऽनुरागसद्भावादनुग्रहोपघाताभ्यामात्मनः सुखदुःखे स्वगृहाद्यनुग्रहोपघाताभ्यामिव कथमुपपद्यते ।

देहादनन्यत्वान्यत्वाभ्यामवक्तव्यमात्मतत्त्वमभ्युपगच्छतां बाधकमाहुः—

येषामवक्तव्यमिहात्मतत्त्वं
देहादनन्यत्वपृथक्त्वक्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञतत्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बंधमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥ १० ॥

टीका—न देहादात्मतत्त्वस्यानन्यत्वक्लृप्तिर्नापि पृथक्त्वक्लृप्तिरुक्तदोषानुषंगात् । किं तर्हि? देहादनन्यत्वपृथक्त्वकल्पनादात्मतत्त्वमवक्तव्यमेवेति येषामभिनिवेशस्तेषां ज्ञतत्त्वं सर्वथाऽ-

नवधार्यतत्त्वं प्रसज्यते तत्स्वरूपस्यावधारयितुमशक्यत्वात्। देहादनन्यत्वेन पृथक्त्वेन वा तस्यानवधारणे प्रोक्तदोषानुषंगात् तदुभयकल्पनयाप्यनवधार्यतत्त्वस्य प्रसिद्धेरवक्तव्यत्ववत्। तथा च सकलवाग्विज्ञानगोचरातिक्रांतमात्मतत्त्वमित्यायातं। तत्र चानवधार्यतत्त्वे ज्ञतत्त्वे का बंधमोक्षस्थितिरप्रमेये सर्वथाऽनवधार्यतत्त्वं ह्यात्मतत्त्वमप्रमेयमापन्नं तत्र चाप्रमेये प्रत्यक्षादिप्रमाणाविषये ज्ञतत्त्वे का बंधमोक्षस्थितिर्वा संभाव्यते बंध्यापुत्रवत् न कापीत्यर्थः।

तदेवं नित्यैकांतात्मवादिमतं समंतदोषं व्यवस्थाप्य संप्रत्यनित्यात्मवादिमतमपि समंतदोषमुपदर्शयितुमारभते—

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाप्यदृष्टो
योऽयं प्रवादः क्षणिकात्मवादः।
न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये
संतानाभिन्ने नहि वासनाऽस्ति॥ ११॥

टीका—योऽयं क्षणिकात्मवादः सौगतानां न ध्वस्तं चित्तमन्यत्र द्वितीये भवे क्षणे भवेदिति, स प्रवाद एव केवलः प्रमाणशून्यो वादः प्रवादः प्रलाप इत्यर्थः। कुत एतत्, योऽत्र क्षणिकात्मवादे हेतुर्ज्ञापकः कश्चिन्न विद्यते 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं' यथा शब्दविद्युदादिः संश्च स्वात्मेति स्वभावहेतुर्ज्ञापकोऽस्त्येवेति चेत्, स तर्हि स्वयं प्रतिपत्त्रा दृष्टो वा स्याददृष्टो वा? न तावत् दृष्टः संभवति, तस्य दर्शनानन्तरमेव विनाशादनुमानकालेऽ-

ध्यभावात् तदनुमातुश्च चित्तविशेषलिंगदर्शिनोऽसंभवात् । न चाऽप्यदृष्टो हेतुः कल्पनारोपितः संभवति तत्कल्पनाया अपि अनुमानकाले विनाशात् । व्याप्तिग्रहणकाललिंगदर्शनविकल्पविनाशेपि तद्वासनासद्भावात् अनुमानकाललिंगदर्शनप्रबुद्धवासनासामर्थ्यादनुमानं प्रवर्त्तत एवेति चायुक्तं हेतुहेतुमद्भावव्याप्तिग्राहिचित्तादनुमातृचित्ते संतानभिन्ने वासनानुपपत्तेः सन्तानभिन्नमिव सन्तानभिन्नं चित्तं तस्मिन्न हि वासनाऽस्ति, जिनदत्तदेवदत्तसंतानभिन्नेपि चित्ते वासनास्तित्वानुषंगात् । देवदत्तचित्तेन साध्यसाधनव्याप्तौ गृहीतायां जिनदत्तस्य तत्साधनदर्शनात् साध्यानुमानमासज्येताविशेषात् । तथा च वासना नास्ति संतानभिन्ने चित्ते, तथा न तत्कारणकार्यभावः संभवतीति क्रियाध्याहारः। संतानभिन्नयोरपि चित्तयोः कार्यकारणभावे देवदत्तजिनदत्तचित्तयोरपि कारणकार्यभावः प्रवर्त्तेत। सामान्यरूपाणामेव चित्तक्षणानामेकसंतानवर्तिनां कार्यकारणभावो न तु भिन्नसन्तानवर्त्तिनामसमानरूपाणामिति चेत्, न तर्हि चित्तक्षणाः क्षणविनश्वरा निरन्वयाः केन समानरूपाः ? न केनापि स्वभावेन ते समानरूपा इत्यर्थः । तथाहि—यदि तावत् सत्स्वभावेन चित्स्वभावेन वा समानरूपाः स्युस्तदा भिन्नसंतानवर्तिनोऽपि तथा भवेयुरविशेषात्। यदि पुनरतद्धेतुभ्यः संतानान्तरवर्त्तिभ्यश्चित्तक्षणेभ्यो व्यावृत्तेन तद्धेत्वपेक्षित्वेन समानरूपाः केचिदेवैकसंतानवर्त्तिनश्चित्तक्षणाः इष्यन्ते पूर्वपूर्वस्यो-

---

१ 'तदनुमातुः स्वचित्तविशेषस्य' इति पुस्तकांतरे ।

पादानहेत्वपेक्षित्वादुत्तरोत्तरचित्तस्येति मतं तदापि तदुत्तरं चित्तमुत्पन्नं सत्स्वहेतुमपेक्षतेऽनुत्पन्नमसद्वा । न तावत् प्रथमः पक्षः । सतः सर्वनिराशसत्त्वादुत्पन्नस्य हेत्वपेक्षत्वविरोधात् । द्वितीयपक्षे त्वसत्खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं । एतदुक्तं भवति, यदसत् तन्न हेत्वपेक्षं दृष्टं यथा खपुष्पं असच्चोत्पत्तेः पूर्वं कार्यचित्तमिति ततो न सिध्यत्युभयोरसिद्धं । न हि किंचिदसदपि हेत्वपेक्षं वादिप्रतिवादिनोरुभयोः सिद्धमस्ति । यन्निदर्शनीकृत्योत्तरमुत्तरं चित्तमनुत्पन्नमपि तद्धेत्वपेक्षं साध्यते तदसाधने च कथं तद्धेत्वपेक्षत्वेनापि समानरूपाश्चित्तक्षणाः केचिदेवैकसंतानभाजः सिद्धेयुर्यतः कारणकार्यभावस्तेषामुपादानोपादेयलक्षणः स्यात्, वास्यवासकभावहेतुरिति न तत्र वासना संभवति भिन्नसंतानचित्तक्षणवत्, ततः सूक्तं सूरिभिरिदम्—

> तथा न तत्कारणकार्यभावा
> निरन्वयाः केन समानरूपाः ।
> असत् खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं
> दृष्टं न सिध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥ १२ ॥

टीका—खंडशोऽस्य व्याख्यानात् ।

यथा च हेतोरपेक्षकं फलचित्तमसन्न घटते तथा हेतुरपि फलचित्तस्यापेक्षणीयो न संभवत्येवेत्याहुः—

> नैवास्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे

न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा
संतानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥ १३ ॥

टीका—अभ्युपगम्येदमुक्तं—कार्यचित्तं सद्रूपमसद्रूपं वा न हेत्वपेक्षमिति परमार्थस्तु क्षणिकात्मवादे हेतुर्नैवाऽस्ति । स हि सन्वा हेतुः स्यादसन्वा ? न तावत्सन्नेव पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षणस्य हेतुर्भवति विभवाद्विभवप्रसंगादित्यर्थः । सत्येकक्षणे चित्ते चित्तान्तरस्योत्पत्तौ तत्कार्यस्यापि तदैवोत्पत्तिरिति सकलचित्तचैत्तक्षणानामेकक्षणवर्त्तित्वोत्पत्तौ युगपत्सकलजगद्व्यापिचित्तप्रकारसिद्धेर्विभुत्वमेव क्षणिकं कथमिव निवार्येत । पूर्वं पश्चाच्च चित्तशून्यं जगदापनीपद्येत तथा च संताननिर्वाणलक्षणो मोक्षो विभवः सर्वस्यानुपायसिद्धः स्यात् । अथैतद्दोषभयादसन्नेव हेतुरिति ब्रूयात् तदाप्यकस्मात्कारणमंतरेण कार्योत्पत्तिप्रसंगस्ततोऽसन्नपि न हेतुः संभवति ।

स्यान्मतं—यस्य नाश एव कार्योत्पादः स तद्धेतुर्नाशोदययोरेकक्षणतोपपत्तेः, कारणनाशानंतरं कार्यस्योदयस्यानिष्टेरकस्मात्कार्योदयप्रसंगादिति चेत्, तदप्यसत् । यतो नाशोदयैकक्षणतायाः संतानभिन्नक्षणयोरभावात्, भिन्नौ च तौ क्षणौ च भिन्नक्षणौ कालव्यवहितौ संतानस्य भिन्नक्षणौ संतानभिन्नक्षणौ तयोः सुषुप्तसंताने जाग्रच्चित्तप्रबुद्धचित्तक्षणयोरभावान्नाशोदयैकक्षणताया इति विभक्तिपरिणामः ।

न हि तत्र जाग्रच्चित्तस्य नाशकाल एव प्रबुद्धचित्तस्योदयोऽस्ति मुहूर्तादिकालेनानेकक्षणेन व्यवधानात्तथा च जाग्रच्चित्तं प्रबुद्धचित्तस्य हेतुर्न स्यात् तन्नाशस्यैव प्रबुद्धचित्तोदयत्वाभावात् जाग्रच्चित्तप्रबुद्धचित्तनाशोदययोरेकक्षणतापायात्। अथवा संताने प्रदीपादेर्निरन्वयनाशिनि नाशोदययोरेकक्षणतायाः असंभवात् भिन्नक्षणतेति व्याख्येयं ततोऽसत्येव हेतौ कालान्तरेण स्वयमुत्पद्यमानोऽर्थः प्रलय इवाकस्मिकः स्यात्। तत्र चेदं दूषणमावेदयन्ति सूरयः—

> कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ
> स्यातामसंचेतितकर्म्म च स्यात्।
> आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे
> मार्गो न युक्तो बधकश्च न स्यात्॥ १४॥

टीका—यथा कारणमन्तरेणैव भवन्प्रलयः स्यादाकस्मिकः सौगतस्य तथा कार्योदयोऽपीति[1] प्रलयस्वभावोऽर्थः प्रमाणबलादायातः परिहर्तुमशक्यस्तस्मिंश्चाकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे युक्त्या पूर्वचित्तेन कृतं कर्म शुभमशुभं वा तस्य तत्फलभोगाभावात् कृतप्रणाशः स्यात्तदुत्तरभाविना च चित्तेनाकृतस्यैव कर्मणो भोगः स्यादेकस्य कर्मणां कर्तुस्तत्फलभोक्तुश्चावस्थितस्याभावादिति कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्यातां। तथा येन चित्तेन संचेतितं कर्म तस्य निरन्वयप्रलयात् येना-

---

१ 'तदन्यात्तु' इति पुस्तकांतरे।

संचेतितमुत्तरचित्तेन तस्यैव कर्म भवेदित्यतोऽसंचेतितं च कर्म स्यात् । तथा च सकलास्रवनिरोधलक्षणमोक्षस्य चित्तसंततिनाशरूपस्य वा शांतनिर्वाणस्य मार्गो हेतुर्नैरात्म्यभावनालक्षणो न युक्तः स्यान्नाशकस्य कस्यचिद्विरोधात् । तथा कस्यचित्प्राणिनः कश्चिद्वधकोऽपि न स्यात्तद्वधकस्य प्रलयस्वभावस्याकस्मिकत्वात् ।

किञ्चान्यत्स्यादित्याचार्या व्याचक्षते—

न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ
न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा ।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो
विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥ १५ ॥

टीका—क्षणिकमेकं यच्चित्तं तत्संस्थौ बंधमोक्षौ न स्यातां । यस्य चित्तस्य बंधस्तस्य निरन्वयप्रणाशात्तदुत्तरचित्तस्याबद्धस्यैव मोक्षप्रसंगात् । यस्यैव बन्धस्तस्यैव मोक्ष इत्येकचित्तसंस्थौ बंधमोक्षौ संवृत्या तदेकत्वारोपविकल्पलक्षणया स्यातामिति चेत्तर्हि सापि संवृतिर्मृषास्वभावा स्यात् गौणविधिर्वा ? तत्र तावन्न संवृतिः मृषास्वभावा बंधमोक्षयोः क्षणिकैकचित्तसंस्थयोः मृषात्वप्रसक्तेः । गौणविधिरेव संवृतिरिति चेत्, तर्हि मुख्यौ बंधमोक्षौ कचिच्चित्ते संतिष्ठमानौ प्रतिपत्तव्यौ यतो मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टः पुरुषसिंहवत् । न हि मुख्यसिंहादृते गौणस्य पुरुषे सिंहविधेर्दर्शनमस्ति ।

तदेवं विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या, तव वीरस्य स्याद्वादामृतसमुद्रस्य या दृष्टिरबाधिता ततोऽन्या क्षणिकात्मवादिदृष्टिर्विभ्रान्तदृष्टिरेव समंतदोषत्वादिति सूरेरभिप्रायः ।

तमेवाहुः—

प्रतिक्षणं भंगिषु तत्पृथक्त्वा-
न्न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया ।
दत्तग्रहो नाधिगतस्मृतिर्न
न क्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

टीका—क्षणं क्षणं प्रति भंगवत्सु पदार्थेषु प्रतिज्ञायमानेषु न मातृघाती कश्चित्पुत्रोत्पत्तिक्षण एव मातुः स्वयं नाशात् तदनंतरे क्षणे पुत्रस्यापि प्रलयादपुत्रस्यैव प्रादुर्भावात् । लोकव्यवहारतो मातरं दूरतरं हन्तुं प्रवृत्तोऽपि न मातृघाती भवेदित्यर्थः । तथा न स्वपतिः कुलयोषितोऽपि कश्चित्स्यात् तद्वोढुः पत्युर्विनाशादन्यस्योत्पादात् । तदूढाया योषितश्च विनाशात् तदन्यस्या एवोत्पादात्पारदारिकत्वप्रसंग इत्यर्थः । तथा स्वजायाऽपि न स्यात् । तत एव तथा दत्तग्रहो न स्यात्-धनिना दत्तस्य धनस्याधमर्णात् ग्रहणं न स्यात् दातुर्निरन्वयनाशादधमर्णस्याप्यन्यस्य प्रादुर्भावात् साक्षिलिखितादेरपि परिध्वंसादित्यर्थः । तथाऽधिगतस्य शास्त्रार्थस्य स्मृतिरपि न स्यादिति शास्त्राभ्यासस्य वैफल्यमासज्येत । तथा न क्त्वार्थसत्यं पूर्वोत्तरक्रिययोरेककर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वार्थसत्येन परमार्थेन प्रमा-

श्चोपपन्नेन न्यायेन क्त्वार्थश्च सत्यं च क्त्वार्थसत्यं "राजदंतादिषु परं" इति सत्यपदस्य परनिपातः, तदपि प्रतिक्षणं भंगिषु विषयविषयिषु नोपपद्येत । तथा न कुलं सूर्यवंशादिकं भवेत् क्षत्रियस्य, यत्र कुलेऽसौ जातस्तस्य निरन्वयविनाशात् तज्जन्मनि कुलाभावात् । तथा न जातिः क्षत्रियत्वादिः तद्व्यक्तिव्यतिरेकेण तदसंभवात् । अनेकव्यक्तेरतद्व्यावृत्तिग्राहिणश्चित्तस्यैकस्यासंभवात् तदन्यापोहलक्षणायाश्च जातेरनुपपत्तेः ।

किञ्च—

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत् ।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे
निमज्जतां वीतविकल्पधीः का ॥ १७ ॥

टीका—शास्ता सुगतः शिष्यस्तद्विनेयस्तयोर्विधिः स्वभावस्तस्य व्यवस्था विशेषेणान्यव्यवच्छेदेनावस्था सापि न स्यात्, प्रतिक्षणं भंगिषु चित्तेष्विति सम्बन्धनीयम् । तत्त्वदर्शनेन परानुग्रहतत्त्वप्रतिपिपादयिषा तत्त्वप्रतिपादनकालव्यापिनः कस्यचिदेकस्य शासकस्यानुपपत्तेः । शिष्यस्य च शासनशुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणाभ्यासनादिकालव्यापिनः कस्यचिद्घटनात् । अयं शास्ताऽहं शिष्य इति प्रतिपत्तेः कस्यचिदयोगात् । तथादिशब्देन स्वामिभृत्यविधिव्यवस्था जनकतनयविधिव्यवस्था नप्तृपितामहादिविधिव्यवस्था च न स्यादिति ग्राह्यं । ननु च बहिरन्त-

श्च प्रतिक्षणं विनश्वरेषु स्वलक्षणेषु परमार्थतो मातृघातीत्यादि-शास्तृशिष्यादि विधिव्यवस्थाव्यवहारो न संभवति। किं तर्हि? विकल्पबुद्धिरियमखिलानादिवासनासमुद्भूता मातृघात्यादिव्यवस्थाहेतुर्वितथैव सर्वनिर्विषयत्वादिति यद्यभिमन्यंते सौगतास्तदा तेषामतत्त्वतत्त्वादि विकल्पमोहे निमज्जतां का नाम वीतविकल्पधीरर्थवती तथ्या कथ्येत। मातृघात्यादिसकलमतत्त्वमेव ततोऽन्यत्तु तत्त्वं इति व्यवस्थितेरपि विकल्पवासनाबलायातत्वात्संवृतिरतत्त्वं परमार्थतस्तत्त्व,मित्यपि विकल्पशिल्पिघटितमेव स्यात्। ननु वस्तुबलादिति विकल्पमोहो महाम्भोधिरिव दुष्पारः प्रसज्येत। "द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोकसंवृतिसत्यं च परमार्थतः" इत्येतस्यापि विभागस्य विकल्पमात्रत्वात्तात्त्विकत्वानुपपत्तेः। वीतसकलविकल्पा धीः स्वलक्षणमात्रविषया तात्त्विकीत्यपि न संभाव्यं तस्याश्चतुर्विधाया इन्द्रियमानसस्वसंवेदनयोगिप्रत्यक्षलक्षणायाः परमार्थतो व्यवस्थापयितुमशक्तेः। "प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्त" मिति प्रत्यक्षसामान्यलक्षणस्य प्रत्यक्षविशेषलक्षणस्य च विकल्पमात्रत्वादवास्तवत्वोपपत्तेः। न चावास्तवं लक्षणं वस्तुभूतं लक्ष्यं लक्षयितुमलमतिप्रसंगादिति किं केन लक्ष्येत।

अत्रापरे प्राहुः—न बहिः स्वलक्षणालंबनकल्पनाविकला काचिद् बुद्धिरस्ति सर्वस्या बुद्धेरालंबने भ्रान्तत्वात् स्वप्नबुद्धिवत् स्वांशमात्ररूपपर्यवसितत्वाद्विज्ञानमात्रस्यैव तस्य प्रसिद्धेरिति। सोऽप्येवं प्रष्टः स्पष्टमाचष्टां—विज्ञानमात्रस्य सिद्धिः

ससाधना निःसाधना वा? ससाधना चेत्साध्यसाधनबुद्धिः सिद्धा। सा चानर्थिकाऽर्थवती वा स्यात्? प्रथमपक्षे द्वितीयपक्षे च दूषणान्यभिदधते सूरयः—

अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चे-
द्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः।
अथार्थवत्त्वं व्यभिचारदोषो
न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥१८॥

टीका—विज्ञानमात्रं हि तत्त्वं परवादिनोऽनुमानादेव प्रत्याययेयुः स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तेषां प्रत्याययितुमशक्तेः। तच्चानुमानं-यत्प्रतिभासते तद्विज्ञानमात्रमेव यथा विज्ञानस्वरूपं प्रतिभासते च नीलसुखादिकमिति। न चाविज्ञानं प्रतिभासते जडस्य प्रतिभासायोगादिति पक्षे बाधकप्रमाणमनुमानसमर्थनं असमर्थितस्यासाधनत्वादिति। तत्रेदमनुमानं साधनं विज्ञानमात्रं साध्यमिति साध्यसाधनधीर्यद्यनर्थिका तदा विज्ञानमात्रस्य तत्त्वस्य यो हेतुः साधनं तस्य सिद्धिर्न स्यात्स्वप्नोपालंभसाधनवत्। अथार्थवत्त्वमेव तस्याः साध्यसाधनबुद्धेस्तदाऽनयैव व्यभिचारः प्रकृतहेतोः, सर्वं ज्ञानं निरालंबनं ज्ञानत्वादित्येतत्परं प्रति वक्तुं युक्तं न स्यात् स च महान् दोषः परिहर्तुमशक्यत्वात्। यथैव हीदमनुमानज्ञानं स्वसाध्येनावलंबनेन सालंबनं तथा विवादाध्यासितमपि ज्ञानं सालंबनं किं न भवेदिति संशयकरत्वात्। यदापि विज्ञानमात्रं सर्वस्य वस्तुनः प्रतिभा-

समानत्वेन हेतुना साध्यते, तदापीदमनुमानं वचनात्मकं परार्थप्रतिभासमानमपि न विज्ञानमात्रं ततोऽन्यत्वादिति व्यभिचारदोषः प्रकृतहेतोः स्यादेव । साध्ये विज्ञानमात्रात्मकत्वे साधनस्य साध्यसमत्वानुषंगात्तत एव समाध्यवस्थायां प्रतिभासमानं संवेदनाद्वैतं तत्त्वमस्तु स्वरूपस्य स्वतोगतेरिति च न सुभाषितं तस्य परवादिनामसिद्धत्वात् ।

न हि योगिनो गम्यं परवादिनां सिद्धं नामेति स्वगृहमान्यमेतत् । किं चेदं संवेदनाद्वैतं नानासंवेदनवत् न स्वस्य सिद्धं न च परस्मै प्रतिपाद्यमिति निवेदयन्ति ।

> तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै—
> र्विश्वाभिलापास्पदतामतीतम् ।
> न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं
> सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम् ॥ १९ ॥

टीका—कार्यकारणग्राह्यग्राहकवास्यवासकसाध्यसाधनबाध्यबाधकवाच्यवाचकभावादिविकल्पैः सकलैर्विशुद्धं शून्यं तद्विज्ञानाद्वैतं तत्त्वं न स्वस्य वेद्यं । संहृतसकलविकल्पावस्थायामपि योगिनो ग्राह्यग्राहकाकारविकल्पात्मनः संवेदनस्य प्रतिभासनात् नापि तं निगदितुं शक्यं । विश्वाभिलापास्पदतामतीतत्वात् विश्वे च तेऽभिलापाश्च विश्वाभिलापा विश्वाभिलापा जातिगुणद्रव्यक्रियायदृच्छा शब्दास्तेषामास्पदमाश्रयो विश्वाभिलापास्पदं तस्य भावो विश्वाभिलापास्पदता तामतीतं तत्त्वं कथमिव निगद्यं परस्मै

स्यात्। नहि जात्यादिशब्दैस्तन्निगद्यते जातिद्रव्यगुणक्रियादि-कल्पनाभिरपि शून्यत्वात् नापि यदृच्छाशब्देन तत्र तस्य संकेतयितुमशक्तेः संकेतहेतुविकल्पेनाऽपि शून्यत्वादिति सुषुप्तौ याऽवस्था संवेदनस्य सा स्यात्तत्त्वस्य। ततः सुषुप्त्यवस्थमेतत् सर्वथा विकल्पाभिलापशून्यत्वाभ्युपगमाद्भवदुक्तिवाह्य भवतो वीरस्योक्तिः स्याद्वादस्ततो वाह्यं सर्वथैकान्ततत्त्वमित्युच्यते। विज्ञानार्थपर्यायादेशाद्धि विज्ञानार्थतत्त्वं सकलविकल्पाभिलापविकलमृजुसूत्रनयावलंबिभिरभिमन्यते व्यवहारनयाश्रयिभिर्विकल्पाभिलापास्पदमिति स्याद्वादाश्रयणो तत्त्वं न भवदुक्तितो वाह्यं स्यादित्यर्थाद्गम्यते।

पुनरपि परमतमनूद्य दूषयितुमाहुराचार्याः—

मूकात्मसंवेद्यवदात्मवेद्यं,
तन्म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापम्।
अनंगसंज्ञं तदवेद्यमन्यैः
स्यात्, त्वदुद्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम्॥२०॥

टीका—यथा मूकस्यात्मसंवेद्यं स्वसंवेदनं, तथात्मसंवेद्यमेव संविदद्वैतं, न च त्मसवेद्यमिति शब्देनाऽपि तत्त्वमभिलप्यते तत्, कुतो-यतो म्लिष्टा अस्पष्टा भाषा मूकभाषेव=तत्प्रतिमः प्रलापो निरर्थको यस्मिंस्तन्म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापं न पुनरभिलाप्यं ततस्तदवेद्यमेवान्यैः प्रतिपाद्यैरिति मन्यंते केचित्। यथा चाभिलापास्तदवेद्यमन्यैस्तथांगसंज्ञयाऽपि सूचीहस्तलक्ष-

न्यायाऽनपेक्षमनंगसंज्ञत्वात्। यद्धि सर्वथाऽनभिलाप्यं तत्रांग संज्ञासंकेतोऽपि न प्रवर्त्तते। न चासंकेतितांगसंज्ञा कचिद्विचि निमित्तं शब्दवदिति च ये प्रतिपद्यंते तेषां त्वद्द्विषां संविदद्वै तवादिनामवाच्यमेव तत्त्वं वाच्यं स्यात्, नैव स्यादिति काक्व्याख्यातव्यम् तेषां मौनमेव शरणं स्यादिति यावत्।

तदेवं सौगतमतमुपहासास्पदमेवेति निवेदयंति—

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता,
शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः।
अहो इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्
त्वया विना श्रायसमार्य किं तत्॥२१॥

टीका—शास्ता सुगत एवाशासदनवद्यानि वचांसि यथार्थदर्शनादिगुणयुक्तत्वान्न च तैर्वचनैः शिष्यास्ते प्रतिपादिता इतीदमहो दुर्गतमं साश्चर्यमन्यत्तमः स्यात् कृच्छ्रतमेनाधिगम्यत्वात्। तत्त्वानुशासनं हि सति शास्तरि गुणवति प्रतिपाद्येभ्यस्तत्त्वप्रतिपत्तियोगेभ्यः सत्यैरेव वचनैः प्रसिद्धं। तत्र सुगते शास्तरि प्रसिद्धेपि सौगतानां तद्वचनेषु च सत्येषु संभवत्सु शिष्याः सन्तोऽपि प्रतिपादितमनसो न शिष्टा इति कथममोहः प्रतिपद्येतेति प्रेक्षावतामुपहासास्पदमिदं दर्शनमाभासते।

स्यान्मतं—संवृत्या शास्तृशिष्यशासनतदुपायवचनसद्भावान्नोपहासास्पदमेतत्परमार्थतः संविदद्वैतस्य निःश्रेयसलक्षणस्य प्रसिद्धेरिति, तदप्यसत्। त्वया स्याद्वादन्यायनायकेन

विना भगवन्! आर्य! वीरभट्टारक! मे नैव आयसं किंचित् संभवति यतः प्रमाणेन परीक्ष्यमाणमिति प्रत्येयं।

तत् तर्हि संविदद्वैतरूपं निर्वाणं प्रत्यक्षबुद्धिबोध्यं लिंगगम्यं वा, परार्थानुमानवचनप्रतिपाद्यं वा स्याद्गत्यंतराभावान्न च तत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणं संभवतीति प्रतिपत्त्यभावमेव साधयन्त्याचार्याः—

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिंगगम्यं न तदर्थलिंगम्।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्गतिः कष्टमशृण्वतां ते॥ २२॥

टीका—यत्र संविदद्वैते तत्त्वे प्रत्यक्षबुद्धिर्न क्रमते न प्रवर्त्तते कस्यचित्तथा निश्चयानुत्पत्तेस्तल्लिंगगम्यं स्यात्स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवत्। न च तत्रार्थरूपं लिंगं संभवति तत्स्वभावलिंगस्य तद्वत् प्रत्यक्षबुद्ध्यतिक्रान्तत्वाल्लिंगान्तरगम्यत्वेऽनवस्थानुषंगात्तत्कार्यलिंगस्य वा संभवात् संभवे वा द्वैतप्रसंगात्। न च वाचः परार्थानुमानरूपायास्तद्विषयेण संविदद्वैतरूपेण योगः परंपरयाऽपि संबंधायोगात्, ततः का तस्य तत्त्वस्य गतिर्न काचित् प्रत्यक्षा लैंगिकी शाब्दी वा प्रतिपत्तिरस्तीति कष्टं दर्शनं ते तव शासनमशृण्वतां तायागतानामिति ग्राह्यं। संवृत्या तत्प्रतिपत्तिर्न कष्टमिति मन्यमानान्प्रत्याहुः—

रागाद्यविद्यानलदीपनं च
विमोक्षविद्यामृतशासनं च ।
न भिद्यते संवृतिवादिवाक्यं
भवत्प्रतीपं परमार्थशून्यम् ॥२३॥

टीका—यथैव हि रागाद्यविद्यानलस्य दीपनं च वाक्यं "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादिकं संवृतिवादिनां सौगतानां परमार्थशून्यं तथा विमोक्षविद्यामृतस्य शासनमपि वाक्यं "सम्यग्ज्ञानवैतृष्णाभावनातो निःश्रेयस" मित्याद्यपि, ततो न भिद्यते परमार्थशून्यत्वाविशेषात् । परमार्थशून्यत्वं तु तद्वाक्यस्य भवत्प्रतीपत्वे तु सर्वथैकान्तविषयतयैवोपगतत्वात् भवतो हि वीरस्यानेकान्तशासनस्य न किंचिद्वाक्यं सर्वथा परमार्थशून्यं रागाद्यविद्यानलदीपनस्यापि वाक्यस्य बंधकारणलक्षणेन परमार्थेनाशून्यत्वात्, विमोक्षविद्यामृतशासनस्येव वाक्यस्य मोक्षकारणरूपेण परमार्थेनेति तात्पर्यार्थः ।

ननु च संवृतिवादिनोऽपि श्रुतमयी चिन्तामयी च भावना प्रकर्षपर्यन्तं प्राप्ता योगिनः प्रत्यक्षसंविदद्वयं प्रसूते, गुरुणोपदिष्टायाः कस्याश्चिदविद्यायाः प्रकृष्टविद्याप्रसूत्यै स्वयं शील्यमानायाः संभवाविरोधादिति च प्रतिपद्यमानान्प्रति प्राहुः—

विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना,

भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो,
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥ २४ ॥

टीका—सकला ह्यविद्या तावदविद्यान्तरप्रसूत्यै प्रसिद्धा लोके सा गुरुणाप्युपदिष्टा भाव्यमाना विद्याप्रसूत्यै भवतीति वदतः सौगतस्य कथमहो भगवन् ! वीर ! त्वदीयोक्त्यनभिज्ञस्य मोहो न भवेत् ! दर्शनमोहोदयापाये विरुद्धाभिनिवेशासंभवात् । यद्धि निमित्तमविद्यालक्षणमविद्याजन्मने तदेव तस्याः पुनरजन्मने प्रसिद्धं स्यादिति विरुद्धोऽभिनिवेशः स्यात् । नहि मदिरापानं मदजन्मने प्रसिद्धं मदाजन्मने निमित्तं भवितुमर्हति । ननु च यथा विषभक्षणं विषविकारकारणं प्रसिद्धमपि किंचिद्विषविकाराजन्मने दृष्टं तथा काचिदविद्याऽपि भाव्यमाना स्वयमविद्याजन्माभावाय भविष्यति विरोधाभावादिति कश्चित्; सोऽप्यपर्यालोचितवचनः । अन्यद्धि जंगमविषं भ्रमदाहमूर्च्छादिविकारस्य जन्मने प्रसिद्धं तदजन्मने पुनरन्यदेव स्थावरविषं तत्प्रतिपक्षभूतमिति विषमसुदाहरणं । तद्वाविद्यापि संसारहेतुरनादिवासनासमुद्भूताऽन्यैवाविद्यानुकूला, मोक्षहेतुः पुनरनाद्यविद्याजन्मनिवृत्तिकरी विद्याऽनुकूला चान्या तत्प्रतिपक्षभूतत्वादिति साम्यमुदाहरणस्यास्तु विशेषाभावादिति वचनं न परीक्षाक्षमं अविद्याप्रतिपक्षभूताया एवाविद्यायाः संभवाभावाद्विद्यात्वानुषंगात् । नन्वेवं विषप्रतिप-

क्षभूतस्य विषान्तरस्यापि विषत्वं माभूत्तस्यामृतत्वानुषंगात्। इत्येतदपि न प्रतिकूलं नः। जंगमविषप्रतिपक्षभूतं हि स्थावरविषमत एव विषममृतमिति प्रसिद्ध सर्वथा तस्य विषत्वे विषान्तरप्रतिपक्षत्वविरोधात्। कथंचिद्विषत्वं क्षीरादेरपि न निवार्यते तदभ्यवहरणानंतरमपि कस्यचिन्मरणादर्शनात्। काचिदविद्या तु विद्यानुकूला यदि कथंचिद्विद्या निगद्येतान्यथानाद्यविद्याप्रतिपक्षत्वायोगात्तदा न किंचिदनिष्टं स्याद्वादिमताश्रयणात्संवृतिवादिमतविरोधात्। स्याद्वादिनां हि केवलज्ञानरूपां परमां विद्यामपेक्ष्य क्षायिकीं क्षायोपशमिकीं मतिज्ञानादिरूपापकृष्टविद्याप्यविद्याऽभिप्रेता नानादिमिथ्याज्ञानदर्शनलक्षणाविद्यापेक्षया तस्यास्तत्प्रतिपक्षभूतत्वाद्विद्यात्वसिद्धेरिति न सर्वथाऽप्यविद्यात्मिकाभावना गुरुणोपदिष्टापि विद्याप्रसूत्यै व्याघाताद् गुरोरपि तदुपदेष्टुरगुरुत्वप्रसंगाद्विद्योपदेशिन एव गुरुत्वप्रसिद्धेः। ततोऽनुपायमेव संविदद्वैतं तत्त्वं सर्वप्रमाणगोचरातिक्रांतत्वात् पुरुषाद्वैतवदिति स्थितम्।

संप्रत्यवसरप्राप्तमभावैकांतवादिमतमनूद्य निराकर्त्तुमारभन्ते सूरिवर्याः—

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः
सा संवृतिः सर्वविशेषशून्या।
तस्या विशेषौ किल बंधमोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम्॥ २५॥

टीका—न च बहिरन्तश्च निरन्वयक्षणिकपरमाणुमात्रं तत्त्वं सौत्रान्तिकनिराकरणात् । नाप्यन्तःसंवित्परमाणुमात्रं संविदद्वैतमात्रं वा योगाचारमतनिरसनात् । किं तर्ह्यभावमात्रं तत्त्वं माध्यमिकमतमेव परमार्थवृत्तेरभ्युपगम्यते । सा तु परमार्थवृत्तिः संवृतिः न पुनः शून्यसंवित्तिस्तात्त्विकी यतः शून्यसंविदो विप्रतिषेधः स्यात् । तथाहि—सा परमार्थवृत्तिः संवृतिः सर्वविशेषशून्यत्वात्सर्वेषां विशेषाणां पदार्थसद्भाववादिभिरभ्युपगम्यमानानां तदभ्युपगमेनैव बाध्यमानानां व्यवस्थानासंभवादविद्याया एव प्रसिद्धेः, बंधमोक्षावपि तस्या एव संवृतेरविद्यात्मिकायाः सकलतात्त्विकविशेषशून्याया अपि विशेषौ सांवृतौ सांवृतेनैव हेतुस्वभावेनात्मात्मीयाभिनिवेशेन नैरात्म्यभावनाभ्यासेन च विधीयमानौ न विरुद्धौ किलेति शून्यवादिमतसूचनं, तदेतद् त्वदनाथानां सर्वथा शून्यवादिनां वाक्यं, न पुनस्त्वं भगवान् वीरो नाथो येषामनेकान्तवादिनां तेषामेतद्वाक्यं तैः स्वरूपादिचतुष्टयेन सतामेवाकल्पितानां पररूपादिचतुष्टयेनार्थानां शून्यत्ववचनात् । तदभावमात्रस्यापि स्वरूपेणासत्त्वे पारमार्थिकत्वविरोधात् । संविन्मात्रस्य शून्यस्य स्वरूपेण सत्त्वे पररूपेण ग्राह्यग्राहकभावादिना चासत्त्वे सदसदात्मकस्य कथंचिच्छून्यस्य सिद्धेः स्याद्वादिवाक्यस्यैव व्यवस्थानात् ततस्त्वदनाथवाक्यमव्यवस्थितमेव मृषेत्यर्थः ।

यथा न शून्यवादिनां शून्यं तत्त्वमनुपपन्नं तथाऽनेकान्त-

वादिनस्त्वत्तः परेषामपि शून्यमनुपपन्नमपि संप्राप्तमिति प्रति पादयन्ति श्रीसूरयः—

व्यतीतसामान्यविशेषभावा-
द्विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यम्।
खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्धतत्त्वाद्भवतः परेषाम्॥ २६॥

टीका—ये तावद् व्यतीतसामान्यभावात्सर्वतो व्यावृत्तानर्थानाचक्षते भेदवादिनः सौगताः प्रबुद्धतत्त्वाद्भवतो वीरात्परे तेषां सामान्यापह्नवे विशेषाणामभावः प्रसज्येत तेषां सामान्यनांतरीयकत्वात्तदभावे तद्भावायोगात् सर्वथा निरुपाख्यमेवायातं। येऽपि च सामान्यमेव प्रधानमेकं प्रवदंति महदहंकारादिविशेषाणां तद्व्यतिरेकेणासत्त्वात्तेषामपि भवतः परेषां सकलविशेषाभावे सामान्यस्याऽपि तदविनाभाविनोऽसत्त्वप्रसंगात् व्यक्ताव्यक्तात्मनश्च भोग्यस्याभावे भोक्तुरप्यात्मनोऽसंभव इति सर्वशून्यत्वमनिच्छतोऽपि सिध्येत्। व्यक्ताव्यक्तयोः कथंचिद्भेदप्रतिज्ञाने तु स्याद्वादन्यायानुसरणान्न त्वदनाथवाक्यं स्यात्। तथा—परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषभाववादिनो यौगाः कथंचित्सामान्यविशेषभावानभ्युपगमात् व्यतीतसामान्यविशेषभावाः प्रसिद्धा एव भवतः परे तेषामपि खपुष्पवदसदेव तत्त्वमायातं विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यत्वात् व्यतीतसामान्यभाववादिवत् व्यतीतविशेषभाववादिवच्च। सर्वथा

शून्यवादिवद्वेति वाक्यभेदेन व्याख्यातव्यं। परं हि सामान्यं सत्त्वं द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नमभिदधतां द्रव्यादीनामसत्त्वं स्यात्सत्त्वाद्भिन्नत्वात्प्रागभावादिवत् । ननु द्रव्यादीनामप्रतिपत्तौ हेतोराश्रयासिद्धिः प्रतिपत्तौ धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुरिति चेत्, न द्रव्यादीनां धर्मिणां कथंचित्सत्त्वादभिन्नानां प्रत्यक्षादिप्रमाणतः सिद्धेस्तद्भेदैकांतसाधनायैव प्रयुक्तस्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वसिद्धेः । ननु च सत्त्वाद् भिन्नत्वादित्येतस्य हेतोरप्रतिपत्तौ स्यादसिद्धत्वं प्रतिपत्तौ तु धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितः पक्षो हेतुश्च कालात्ययोदितः स्याद् द्रव्यादीनां सत्त्वादभेदग्रहणस्य द्रव्याद्यस्तित्वप्रतिपत्तिनान्तरीयकत्वात्तदसत्त्वे तदभेदप्रतिपत्तेरयोगादिति च न समीचीनं वचनं प्रसंगसाधनप्रयोगात् इति चेत् न सत्त्वाद्भिन्नत्वं हि प्रागभावादिषु परैः स्वयमसत्त्वेन व्याप्तं प्रतिपन्नं द्रव्यादिषु प्रतिपद्यमानमसत्त्वं साधयतीति साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावनिश्चये सति व्याप्याभ्युपगमस्य व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकस्य प्रदर्शनं प्रसंगसाधनमनुमन्यताम् । ननु च किं सत्त्वासमवायोऽसत्त्वं साध्यते किं वा नास्तित्वमिति पक्षद्वितयं । न तावदुत्तरः पक्षः श्रेयान्नास्तित्वेन सत्त्वाद्भिन्नत्वस्याव्याप्तत्वात् । प्रागभावादीनां सत्त्वाद् भिन्नत्वेऽपि सद्भावादन्यथोदाहरणत्वविरोधात् । प्रथमपक्षे तु प्रमाणबाधः सत्त्वसमावायस्य द्रव्यादिषु प्रमाणतः प्रतीतेः सत्त्वासमवायस्य तया बाध्यमानत्वं । तथा हि—द्रव्यादीनि सत्तासमवायभांजि सत्प्रत्यय-

विषयत्वात्, यत्तु न सत्तासमवायभाक्तन्न सत्प्रत्ययविषयो यथा प्रागभावाद्यसत्त्वं। सत्प्रत्ययविषयाश्च द्रव्यादीनि तस्मात्सत्तासमवायभांजीति द्रव्यादिषु सत्त्वस्य समवायप्रतीतिः सत्त्वासमवायस्य वाधिकाऽस्ति ततो न द्रव्यादीनामसत्त्वं सत्त्वासमवायलक्षणं साधयितुं शक्यं नास्तित्वलक्षणासत्त्ववदिति केचित्। तेऽपि न परीक्षकाः। सत्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतोः परेषां सामान्यादिभिर्व्यभिचारात् तेषु सत्त्वसमवायासंभवेऽपि भावात्। यदि पुनर्मुख्यसत्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतुत्वान्नोपचरितसत्प्रत्ययविषयत्वेन व्यभिचारोद्भावनं युक्तमतिप्रसंगादिति निगद्यते तदा सामान्यादिषु कुतः सत्प्रत्ययविषयत्वमुपचरितमिति वक्तव्य। स्वरूपसत्त्वनिमित्तत्वादिति केचित्। व्याहतमेतत् "स्वरूपसत्त्वनिमित्तं चोपचरितं चेति" को ह्यबालिशः स्वरूपसत्त्वनिमित्तं सत्प्रत्ययविषयत्वमुपचरितमर्थान्तरभूतसत्तासंबंधत्वान्मुख्यमिति ब्रूयादन्यत्र जडात्मनः, यष्टिस्वरूपनिमित्तं हि यष्टौ यष्टिप्रत्ययविषयत्वं मुख्यं लोके प्रसिद्धं, यष्टिसंबंधा[1]त्तु पुरुषे गौणमिति मुख्योपचरितव्यवस्थातिक्रमादनादेयवचनताऽस्य स्यात्। स्यादाकूतं ते सत्तासमवायनिमित्तं सत्प्रत्ययविषयत्वं द्रव्यादिषु मुख्यं तद्विशेषणसत्त्वग्रहणपूर्वकत्वाद्विशेषणप्रत्ययनिमित्तस्य विशेषप्रत्ययस्य मुख्यत्वसिद्धेः यष्टित्वविशेषणग्रहणनिमित्तकविशेष्ययष्टिप्रत्ययवत् सत्त्वविशेषणग्रहणमंतरेण सामान्यादिषु सत्प्रत्यय-

१ 'यष्टिसंबधवत्सु पुरुषेषु' इति पुस्तकांतरे।

स्योपचरितत्वसिद्धेः पुरुषे यष्टित्वग्रहणमन्तरेण यष्टिप्रत्ययव-
दिति । तदप्यसम्यक् । तत एव व्यभिचारसिद्धेः सत्प्रत्य-
यविषयत्त्वस्य सत्वसमवायासंभवेऽपि भावात् । ततो द्रव्यादीनां
सत्तातोऽत्यंतभेदोपगमे सत्वासमवायलक्षणमसत्त्वं सिद्धमेव ।
तथा पृथिव्यादीनामद्रव्यत्वं द्रव्यत्वाद्भिन्नत्वाद्रूपादिवत्, रूपा-
दीनां चागुणत्वं गुणत्वादन्यत्वादुत्क्षेपणादिवत्, उत्क्षेपणा-
दीनामकर्मकत्वं कर्मत्वादर्थान्तरत्वाद्घटादिवदिति व्यतीतसा-
मान्यत्वं द्रव्यगुणकर्मणामसत्त्वं साधयति व्यतीतविशेषत्ववत् ।
तत्सूक्तं सूरिभिः सदसत्तत्त्वं योगानामसदेव व्यतीतसामान्य-
विशेषभावात् खपुष्पवदिति सामान्यविशेषसमवायानां हि स्व-
यमसामान्यविशेषत्वाभ्युपगमात्प्रागभावादिवन्नासिद्धं व्यती-
तसामान्यविशेषत्ववत्त्वं साधनं। नाऽपि द्रव्यगुणकर्मणां सामा-
न्याद्यभावे प्रसिद्धे तेषां व्यतीतसामान्यविशेषत्वस्याप्रसिद्धि-
रथवा द्रव्यादीनां नास्तित्वमेव साध्यं खपुष्पवदिति दृष्टांत-
सामर्थ्यात्, ततो विश्वाभिलापार्थविकल्पशून्यं तत्त्वमायातं ।
अभिलापः पदं तस्यार्थः, अभिलापार्थः पदार्थ इति यावत्,
तस्य विकल्पा भेदाः षट् द्रव्यादयो वैशेषिकाणां, प्रमाणादयः
षोडश नैयायिकानां, विश्वे च तेऽभिलापार्थविकल्पाश्चेति
स्वपदार्थप्रचितास्तैः शून्यं तत्त्वं स्यात्खपुष्पवदसदेव प्रबुद्धत-
त्त्वाद्भवतः परेषामिति वचनाद्भवतो वीरस्यानेकांततत्त्ववादिनो
नासत्तत्त्वं स्यादिति प्रतीयते । कथंचित्सामान्यविशेषभावस्य
द्रव्यादिषु प्रतीयमानत्वात्प्रमाणादिषु बाधकाभावात् द्रव्या-

पक्षदूषणत्वात्ततिसिद्धिरेवेति चायुक्तं यस्माद्वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत्[1] यद् दूषणं परपक्षे स्वयमुच्यते क्षणिकैकांतवादिना तत्र च यथार्थे वाच्यं तच्च न सम्यग्दूषणं वक्तुं शक्यमित्यर्थः। न नित्यं वस्तु सदनर्थक्रियाकारित्वात् क्रमयौगपद्यरहितत्वात् खपुष्पवदिति दूषणस्यायथार्थत्वाद्दूषणाभासत्वसिद्धेः परपक्षवत्स्वपक्षेऽपि भावान्न तत्प्रत्यनयोः पक्षयोः कचिद्विशेषोऽस्ति। ताभ्यां हि सर्वथैकांताभ्यामनेकान्तो निवर्त्तते विरोधात्तन्निवृत्तौ तु क्रमाक्रमौ निवर्त्तेते तयोस्तेन व्याप्तत्वात्। एकस्यानेकदेशकालव्यापिनो देशक्रमकालक्रमदर्शनात्। तथैकस्यानेकशक्त्यात्मकस्य नानाकार्यकरणे यौगपद्यसिद्धेः। क्रमाक्रमयोश्च निवृत्तौ ततोऽर्थक्रियाया निवृत्तिस्तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात् क्रमाक्रमाभ्यां विना कचिदर्थक्रियानुपलब्धेस्तन्निवृत्तौ च वस्तुतत्त्वं न व्यवतिष्ठते तस्यार्थक्रियया व्याप्तत्वात्। न च स्वपक्षं परपक्षवत् निराकुर्वद्दूषणं यथार्थं भवितुमर्हति न सर्वथाऽप्यसत्तत्त्वं तत एव नोभयमनुभयं चार्थक्रियाविरोधात्।

किं तर्हि सकलमवाच्यमेवेत्येकान्तवादेऽपि दूषणमावेदयन्ति।

उपेयतत्त्वानभिलाप्यताव-

दुपायतत्त्वानभिलाप्यता स्यात्।

---

१ प्रमाणत्वात् इति पाठान्तरं।

अशेषतत्त्वानभिलाप्यतायां
द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

टीका—भवतो वीरस्य युक्तिर्न्यायः स्याद्वादनीतिस्तस्या अभिलाप्यता कथंचित्सदेवाशेषं तत्त्वं स्वरूपादिचतुष्टयात्कथंचिदसदेव विपर्यासादित्यादिवचनविषयता तस्या द्विषां शत्रूणामशेषस्यापि तत्त्वस्यानभिलाप्यतायामभिप्रेतायां किं स्यादुपायतत्त्वस्यानभिलाप्यता स्यादुपेयतत्त्वस्यैवाविशेषात्। ततश्च यथोपेयं तत्त्वं निःश्रेयसं सर्वथाभिलपितुमशक्यं तथोपायतत्त्वमपि, तत्प्राप्तेः कारकं ज्ञापकं चेति सर्वथाऽप्यनभिलाप्यं तत्त्वमित्यपि नाभिलपितुं शक्येत प्रतिज्ञातविरोधादित्यभिप्रायमाविःकुर्वन्ति स्वामिनः—

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-
दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम्।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि
स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

टीका—सर्वथाऽप्यशेषं तत्त्वमवाच्यं स्यात्स्वरूपतो वा पररूपतो वा गत्यंतराभावात्। प्रथमपक्षे तावदवाच्यमयथाप्रतिज्ञं प्रसज्येत इति क्रियाध्याहारः। कुत एतत् अवाच्यमित्यत्र वाच्यभावादवाच्यमित्यस्यैव वाच्यत्वादित्यर्थः। सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वाच्चशब्दस्यैव शब्दार्थत्वात्। स्वरूपेणावाच्य-

मिति द्वितीयपक्षे स्वरूपवाचि सर्वं वच इति विरुद्धवचनमासज्येत । पररूपेणावाच्यतत्त्वमिति तृतीयपक्षेऽपि पररूपवाचि सर्वं वच इति विरुध्यते । सर्वत्र स्वप्रतिज्ञाव्यतिक्रमादयथाप्रतिज्ञमिति सम्बन्धनीयम् । तदेवं न भावमात्रं नाभावमात्रं नोभयं नावाच्यमिति चत्वारो मिथ्याप्रवादाः प्रतिषिद्धाः सामर्थ्यान्न सदवाच्यं तत्त्वं नासदवाच्यं नोभयावाच्यं नानुभयावाच्यमिति निवेदितं भवति न्यायस्य समानत्वात् ।

कथंचिदवाच्यत्वप्रतिज्ञाया तत्त्वस्य प्रतिपादकं वचनं सत्यमेवानृतमेव वेत्याद्येकान्तनिरासार्थमाहुः—

सत्यानृतं वाऽप्यनृतानृतं वाऽ-
प्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन ।
युक्तं प्रतिद्वंद्व्यनुबंधिमिश्रं
न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥ ३० ॥

टीका—किंचिद्वचनं सत्यानृतमेवाऽस्ति प्रतिद्वन्द्विमिश्रं सत्येतरज्ञानपूर्वकत्वाच्छाखायां चन्द्रमसं पश्येति, यथा तत्र हि चन्द्रमसं पश्येति सत्यं चन्द्रमसो दर्शनात्संवादकप्रादुर्भावात् । शाखायामिति वचनमनृतं शाखप्रत्यासन्नचदर्शनस्य चन्द्रमसि विसंवादकत्वात्तन्निबंधनवचनस्यानृतत्वसिद्धेः । सत्यं च तदनृतं चेति सत्यानृतमवतिष्ठते प्रतिद्वन्द्विभ्यां सत्यानृताभ्यां वस्त्वंशाभ्यां मिश्रं युक्तमिति संबंधनीयं । परवचनमनृतानृतमेवास्ति तच्चानुबंधिमिश्रं यथा चन्द्रद्वयं गिरौ पश्ये-

ति। तत्र हि यथा चन्द्रद्वयवचनमनृतं तथा गिरौ चन्द्रवचनं विसंवादिज्ञानपूर्वकत्वात्। एकस्मादनृतादपरमनृतमनुबंधि समभिधीयते तेनानुबंधिना मिश्रमनुबंधिमिश्रमिति प्रत्येयं। प्रतिद्वन्द्वि चानुबंधि च प्रतिद्वन्द्व्यनुबंधिनी ताभ्यां मिश्रं सत्यानृतं चाप्यनृतानृतं चेति यथासंख्यमभिसंबन्धाद्वाशब्दस्यैवकारार्थत्वादेव व्याख्यातव्यम्। तच्चेदृक् भगवन्! जिन! नाथ! त्वदृते त्वत्तो विना वस्तुनोऽतिशायनेनाभिधेयस्यातिशयेन वचनं प्रवर्त्तमानं किं युक्तं, नैव युक्तमित्यर्थात्तवैव युक्तमेतदिति गम्यते तादृगनेकान्तमेकं नावास्तवं भवति त्वदृते सर्वथैकान्तस्यावस्तुत्वव्यवस्थानात्।

कथं पुनः किंचिदनृतमपि सत्यं सत्यमप्यनृतं किंचिदनृतमनृतमेवेति भेदोऽनृतस्य स्यादित्यावेदयन्ति।

सहक्रमाद्वा विषयाल्पभूरि
भेदेऽनृतं भेदि न चात्मभेदात्।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च
स्याच्चानृतात्मानभिलाप्यता च॥ ३१॥

टीका—विषयस्याभिधेयस्याल्पभूरिभेदोल्पानल्पविकल्पस्तस्मिन् सति स्यादेवानृतं भेदवत् यस्य हि वचनस्याभिधेयमल्पमसत्यं भूरि सत्यं तत्सत्यानृतमिति, सत्यविशेषणेनानृतं भेदि प्रतिपाद्यते। यस्य तु वचनस्याभिधेयमल्पं सत्यमनृतं भूरि तदनृतानृतमिति, अनृतविशेषणेनानृतं। न चात्मभेदादनृतं

भेदि भवितुमर्हति तस्यानृतात्मना सामान्येन भेदाभावात्। आत्मान्तरं-तु तस्यानृतस्यात्मविशेषलक्षणं स्यात् भिदुरं भेदस्वभावं विशेषणभेदात्स्यात् समम भेदस्वभावं विशेषणभेदाभावात् चशब्दादुभयं हेतुद्वयार्पणाक्रमेणेति यथासंभवमभिसंबध्यते न तु यथासंख्यं छन्दोवशात्तथाभिधानात्सहद्वयार्पणात् स्याच्चानृतात्मानभिलाप्यता च सहोभाभ्यां धर्माभ्यामभिलपितुमशक्यत्वाच्चशब्दोऽनभिलाप्यांतराभिलाप्यांतरभंगत्रयसमुच्चयः स्याद्भिदुरं चानभिलाप्यं च स्यात्समं चाऽनभिलाप्यं चेति स्यादुभयं चाऽनाभिलाप्यं चेति सप्तभंगी प्रत्येया।

ननु च न वस्तुनोऽतिशायनं संभवति, सदेकरूपत्वादित्येके। असदेकान्तात्मकत्वादित्यपरे। सत्त्वासत्त्वाद्यशेषधर्मप्रतिषेधादिति चेतरे। तन्निराकरणपुरःसरं वस्तुनोऽनेकातिशयसद्भावमावेदयन्ति—

न सच्च नासच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम्।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदा-
त्स्वप्नेऽपि नैतत्त्वदृषेः परेषाम्॥ ३२॥

टीका—न तावत्सत्त्वाद्वैतं तत्त्वं दृष्टमिति स्वभावानुपलंभेन सन्मात्रं निराक्रियते। तथा हि—नास्ति सन्मात्रं सकलविशेषणरहितं दृश्यस्य सतो जातुचिददर्शनात् असन्मात्रवदि-

स्यनेन नासदेव तत्त्वं दृष्टमिति व्याख्यातं चशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्। परस्परनिरपेक्षं सत्तत्त्वमसत्तत्त्वं न दृष्टमिति घटनासेन न परस्परनिरपेक्षं सदसत्तत्त्वं संभवति सर्वप्रमाणतोऽदृष्टत्वात्सन्मात्रतत्त्ववदसन्मात्रतत्त्ववद्वेति प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यं। तथा न सन्नाप्यसन्नोभयं नैकं नानेकमित्याद्यशेषधर्मप्रतिषेधगम्यमात्मान्तरं परमब्रह्मतत्त्वमित्यपि न संभवति। कदाचित्तथैवादर्शनादिति न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यमिति व्याख्यातव्यं। तदेवं सत्त्वासत्त्वविमिश्रं परस्परापेक्षं तत्त्वं दृष्टमित्यनेन सदसदाद्येकांतव्यवच्छेदेन सदसदाद्यनेकान्तत्व साध्यते, तदुपाधिभेदात्। उपाधिर्विशेषणं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्च तद्भेदादित्यर्थः। तेनेदमुक्तं भवति—स्यात्सदेव सर्वं तत्त्वं स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसदेव सर्वं तत्त्वं पररूपादिचतुष्टयात्, स्यादुभयं स्वपररूपादिचतुष्टयद्वैतक्रमार्पितात्, स्यादवाच्यं सहार्पिततद्द्वैतात्, स्यात्सदवाच्यं स्वरूपादिचतुष्टयादशक्तेः, स्यादसदवाच्यं पररूपादिचतुष्टयादशक्तेः, स्यात्सदसदवाच्यं क्रमार्पितस्वपररूपादिचतुष्टयद्वैतात्सहार्पिततद्द्वैताच्च। इत्येवं तदेव सदसदादिविमिश्रं तत्त्वं दृष्टमिति वस्तुनोऽतिशायनेन किंचित्सत्यानृतं किंचिदनृतानृतं वचनं तवैव युक्तम्। त्वत्तो महर्षेरन्येषां सदाद्येकान्तवादिनां स्वप्नेपि नैतत्संभवतीति वाक्यार्थः प्रतिपत्तव्यः।

ननु च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं निरंशवस्तुप्रतिभास्येव न

धर्मिधर्मात्मकवस्तुप्रतिभासितपृष्ठभाविविकल्पनज्ञानोत्थं धर्मी धर्मोऽयमिति धर्मिधर्मव्यवहारस्य प्रवृत्तेस्तेन च सकलकल्पनापोढेन प्रत्यक्षेण निरंशस्वलक्षणस्यादर्शनमप्रसिद्धं कथं तदभावं साधयेदिति वदन्तं प्रत्याहुः—

प्रत्यक्षनिर्देशवदप्यसिद्ध-
मकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो
न तावकद्वेषिणि वीर ! सत्यम् ॥ ३३ ॥

टीका—प्रत्यक्षेण निर्देशः प्रत्यक्षनिर्देशः, प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा नीलादिकमिदमिति वचनमन्तरेणांगुल्या प्रदर्शनमित्यर्थः । स प्रत्यक्षनिर्देशोऽस्यास्तीति प्रत्यक्षनिर्देशवत् । तदप्यसिद्धं । कुत एतत्, यस्मादकल्पकं ज्ञापयितुं कुतश्चिदप्यशक्यं, हि यस्मादर्थे । तेनेदमुक्तं भवति—यस्मादकल्पकं कल्पनापोढं, न विद्यते कल्पः कल्पनाऽस्मिन्निति विग्रहात्, तद् ज्ञापयितुं संशयितेभ्यो विनेयेभ्यः प्रतिपादयितुं न शक्यं, तस्मात्प्रत्यक्षनिर्देशवदपि तत्त्वमिदमसिद्धमिति । तद्धि प्रत्यक्षमकल्पकं न तावत्प्रत्यक्षतो ज्ञापयितुं शक्यं तस्य परासंवेद्यत्वात् । नाऽप्यनुमानात्तत्प्रतिबद्धलिंगप्रतिपत्तेरसंभवात्परेषामगृहीतलिंगलिंगिसम्बंधानामनुमानज्ञानेन ज्ञापयितुमशक्तेः । स्वयंप्रतिपन्नकल्पनापोढप्रत्यक्षप्रतिबद्धलिंगानां तु तज्ज्ञापनानर्थक्यात् ।

को हि स्वयमकल्पकं प्रत्यक्षं तदविनाभाविलिंगं च प्रतिपद्यमानः प्रत्यक्षमकल्पकं न प्रतिपद्येत। प्रतिपद्यमानस्यापि विपरीतसमारोपसंभवात्तज्ज्ञापनमनुमानेन नानर्थकमिति चेत्, न, समारोपव्यवच्छेदेपि पर्यनुयोगस्य समानत्वात्। किं प्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्यानुमानेन समारोपव्यवच्छेदः साध्यते, स्वयमप्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्य वेति? न तावत्प्रथमः पक्षः, समारोपस्यैवासंभवात्। स्वयं प्रत्यक्षमकल्पकं तदविनाभाविसाधनं च प्रतिपद्यमानस्य समारोपे परेण प्रत्यायनेऽपि तस्य समारोपप्रसंगात्। नाऽप्यप्रतिपन्नसाध्यसाधनसंबंधस्य साधनप्रदर्शनेन समारोपव्यवच्छेदनं युक्तमतिप्रसंगात्। यदि पुनर्गृहीतविस्मृतसंबंधस्य साध्यसाधनसंबंधस्मरणकारणात्समारोपो व्यवच्छिद्यत इति मतं, तदप्ययुक्तम्। संबंधग्रहणस्यैवासंभवात्, स्वयमविकल्पकप्रत्यक्षानिश्चये तत्स्वभावकार्यानिश्चये च तत्संबंधस्य निश्चेतुमशक्तेः। परतो निश्चयात्तन्निश्चये तत्स्वरूपस्यापि निश्चयान्तरान्निश्चयप्रसंगादनवस्थानात्। निश्चयस्वरूपानिश्चये ततोऽकल्पकप्रत्यक्षव्यवस्थानानुपपत्तेः सर्वथा तस्य ज्ञापयितुमशक्तेः कुतः सिद्धिः स्यात्? विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थः संभवति "कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्ष" मिति लक्षणमस्यार्थः प्रत्यक्षप्रत्यायनं, न च प्रत्यक्षस्य सिद्धेर्विना तत्प्रत्यायनं कर्तुं शक्यमिति नैव लक्षणार्थः कश्चित्संगच्छते। ततो न तावकद्वेषिणां वीर! सत्यं सर्वथा संभवति। तवाऽयं तावकः स चासौ द्वेषी चेति तावकद्वेषी तावकशत्रुरित्य-

र्थः । तस्मिन्न सत्यं वीर ! भगवन्निति व्याख्यानं । अथवा तवेदं मतं तावकं तद् द्वेपीति तावकद्वेपी सदाद्येकान्तवाद-स्तस्मिन्न सत्यमेकांततः साधयितुं शक्यत इति व्याख्येयं ।

यथा सत्यं न संभवति तथा कर्त्ता शुभस्याशुभस्य वा कर्मणः, कार्यं च शुभमशुभं वा तद्द्विषां न घटत इति प्रतिपादयंति—

कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वाऽ-
पृथक्पृथक्त्वावचनीयतायाम् ।
विकारहानेर्न च कर्तृकार्ये
वृथा श्रमोऽयं जिन ! विद्विषां ते॥३४॥

टीका— वस्तुनो जन्मकालादन्यः कालः कालान्तरं तत्र तिष्ठतीति कालांतरस्थं तस्मिन्वस्तुनि प्रतिज्ञायमानेऽपि न कर्त्ता कश्चिदुपपद्यते, क्षणिके ध्रुवे वा । वाशब्द इवार्थस्तेनेदमुक्तं भवति, यथा क्षणिके निरन्वयविनाशिनि बहिरन्तश्च वस्तुनि न कर्त्ताऽस्ति क्रमयोगपद्यविरोधात् क्रियाया एवासंभवात् । यथा च ध्रुवे कूटस्थे नित्ये निरतिशये पुरुषे सति न कर्त्ता विद्यते तथा कालांतरस्थेपि अपरिणामिनि पदार्थे न कश्चित्क-र्त्ता संभवति, कर्त्तुरभावे च न कार्यं स्वयं समीहितं सिध्यति कर्तृनान्तरीयकत्वात्कार्यस्येति । कुत एतदिति चेत्, विकार-हानेर्विकारः परिणामः स्वयमवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वाकार-परित्यागाजहदुत्तरोत्तराकारोत्पादस्तस्य हानिरभावस्ततो विकारहानेरिति हेतुनिर्देशः । विकारो हि विनिवर्त्तमानः

क्रमाक्रमौ निवर्तयति तयोस्तेन व्याप्तत्वात्, तन्निवृत्तौ तन्निवृत्तिसिद्धेस्तौ च निवर्तमानौ क्रियां निवर्त्तयतस्तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात्। क्रियापाये च न कर्त्ता क्रियाविष्टस्य द्रव्यस्य स्वतंत्रस्य कर्तृत्वसिद्धेः। कर्तुरभावे च न कार्यं स्वर्गापवर्गलक्षणमिति वृथा श्रमोऽयं तपोलक्षणस्तदर्थं क्रियमाणः स्यात् जिन! स्वामिन्! वीर! तव द्विषां सर्वथैकान्तवादिनां सर्वेषामिति संक्षेपतो व्याख्येयम्।

ननु च वस्तुनि क्षणिके विकारस्य हानिरवस्थितस्य द्रव्यस्याभावात्, ध्रुवे च पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादाभावात्, कालान्तरस्थे तु कथं तत्रोभयसंभवादिति केचित्। तेऽपि न प्रामाणिकाः। प्रागसत एवोत्पन्नस्य कालान्तरस्थस्यापि पश्चादसत्त्वैकान्ते सर्वथैकक्षणस्थाद्विशेषाभावादनन्वयत्वस्य तदवस्थत्वात्। ननु नित्यस्यात्मनोऽन्तस्तत्त्वस्य पूर्वानुभूतस्मृतिहेतोः प्रत्यभिज्ञातुरर्थक्रियायां व्याप्रियमाणस्य कर्त्तुः कार्यस्य च तेन क्रियमाणस्य घटनाद्विशेषः कालान्तरस्थस्य क्षणिकादिति केचित्। नात्मनोऽपि नित्यस्यैककर्तृत्वानुपपत्तेः। बुद्ध्याद्यतिशयसद्भावात् कर्त्तात्मेति चेत्, न, बुद्धीच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्काराणामात्मनोऽर्थान्तरत्वे खादिवत्कर्तृत्वानुपपत्तेः, इद मे सुखसाधनं दुःखसाधनं चेति बुद्ध्या खलु किंचिदात्मा जिघृक्षति वा जिहासति वा ग्रहणाय हानाय वा प्रयतमानः पूर्वानुभवसंस्कारात्कार्यस्योपादाता हाता वा कथ्यते सुखदुःखे च यदात्मनो भिन्ने स्यातां खादेरिव न तदा

सुखदुःखे पुंस एवेति नियमः सिध्येत् । तयोः पुंसि समवा-
यात्पुंस एव सुखदुःखे न पुनः खादेरिति चेत् , कुतस्तयोः
पुंस्येव समवायः स्यात् । मयि सुखं दुःखं चेति बुद्धेरिति
चेत् , सा तर्हि बुद्धिः पुनरात्मन्येवेति कुतः सिध्येत् । समवा-
यादिति चेत्, कुतस्तस्यास्तत्रैव समवायो न च गगनादाविति
निश्चेतव्यं । मयि बुद्धिरिति बुद्ध्यंतरादिति चेत्, तदपि
बुद्ध्यंतरमात्मन्येवेति कुतः ? समवायादिति चेत्, कुतस्तस्या-
स्तत्रैव समवाय इत्यादि पुनरावर्त्तत इति चक्रकप्रसंगः । यस्य
यद्बुद्धिपूर्वकाविच्छाद्वेषौ तत्र तद्बुद्धेः समवाय इति चेत्, कुतः
पुंस एव बुद्धिपूर्वकाविच्छाद्वेषौ न पुनः खादेरिति निश्चयः ?
पुंस एव प्रयत्नादिति चेत्, प्रयत्नोऽप्यात्मन एवेति कुतः संप्र-
त्ययः ? प्रवृत्तेरिति चेत् सा तर्हि प्रवृत्तिरुपादानपरित्याग-
लक्षणा कुशला वाऽकुशला वा मनोवाक्कायनिमित्ता प्रयत्न-
विशेषं बुद्धिपूर्वकमनुमापयंती पुंस एवेति कुतः साधयेत् ?
शरीरादावचेतने तदसंभवात्पारिशेष्यादात्मन एव सेति चेत् ,
आत्मनोऽपि स्वयमचेतनत्वाभ्युपगमात् । चेतनासमवायादात्मा
चेतन इति चेत्, न स्वतोऽचेतनस्य चेतनासमवाये खादि-
ष्वपि तत्प्रसंगात्, स्वतश्चेतनत्वे चेतनासमवायवैयर्थ्यात् ।
स्वरूपचेतनया साधारणरूपया चेतनस्य साधारणचेतनासमवाय
इति चेत्, नासाधारणचेतनायाः पुंसोऽनर्थान्तरत्वे साधारण-
चेतनाया अप्यनर्थान्तरत्वमतिप्रसंगाच्चेतनाविशेषसामान्ययोः
पुंसस्तादात्म्यसिद्धौ च परमतानुसरणं दुर्निवारं । चेतनावि-

शेषस्यापि चेतनासामान्यवदात्मनोऽर्थान्तरत्वे कुतो न गगनादेर्विशेषोऽचेतनत्वादिति शरीरादाविव पुंस्यपि प्रवृत्तिर्न सिध्येत्तदसिद्धौ न तत्रैव प्रयत्नसिद्धिरिच्छाद्वेषसिद्धिर्वा सुखदुःखबुद्धिश्चेति न कर्ताऽत्मा सिध्येत्, कार्यं वा यतः कालांतरस्थे बुद्ध्यादौ कर्तृकार्ये न विरुध्येते क्षणस्थितिबुद्ध्यादिवत् ।

अथवा महदादिः कालांतरस्थायी नित्यात्प्रधानादपृथग्भूतः पृथग्भूतो वा ? प्रथमपक्षे न कर्तृकार्ये, विकारस्य हानेः, कर्तृ प्रधानं, कार्यं महदादिव्यक्तं, तयोश्चापृथग्भावे यथा प्रधानमविकारि तथा महदादि व्यक्तमपि तदपृथक्त्वात् प्रधानस्वरूपवत् तथा च न कार्यं प्रधानवत्, कार्याभावे च कस्य कर्तृ प्रधानं स्याद्विकारस्य कार्यस्याभावात् ततो नापृथक्त्वे व्यक्ताव्यक्तयोः कर्तृकार्ये व्यक्ताव्यक्ते स्यातां। द्वितीयपक्षेऽपि न कर्तृकार्ये, तथा हि—न प्रधानं कर्तृ महदादिकार्यात् पृथग्भूतत्वात् पुरुषवत्, विपर्ययप्रसंगो वा महदादि च न कार्यं कर्तुरभावात्पुरुषवत्। न हि प्रधानं महदादेः कर्तृ तस्याविकारित्वात्पुरुषवदिति नासिद्धः कर्तुरभावः। यदि पुनर्व्यक्ताव्यक्तयोरपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यामवाच्यता स्वीक्रियते तदाऽप्यपृथक्त्वपृथक्त्वावचनीयतायां न कर्तृकार्ये विकारस्य हानेः पुरुषभोक्तृत्वादिवत् । पुरुषाद्धि भोक्तृत्वादिरपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यामवचनीयोऽन्यथा तदपृथक्त्वेन भोक्ता नित्यः सर्वगतोऽक्रियो निर्गुणोऽकर्त्ता शुद्धो वा सिध्येत् पुरुष एव भोक्तृत्वनित्यत्वसर्वगतत्वाक्रियत्वनिर्गुणत्वाकर्तृत्वशुद्धत्वधर्माणामन्तर्भावा-

त्। तेषां पुरुषात्पृथग्भावे वा स एव दोषः स्यात् भोक्तृत्वादिभ्योऽन्यस्य भोक्तृत्वादिविरोधात्। प्रधानवदपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यामवचनीयत्वे च न कर्त्तात्मा भोक्तृत्वादेर्नापि भोक्तृत्वादिः कार्यं पुरुषस्येति नोदाहरणं साध्यसाधनविकलं कर्तृकार्यत्वाभावसाधनस्य विकाराभावस्य साध्यस्य पृथक्त्वापृथक्त्वावचनीयत्वस्य च साधनस्य सद्भावात्, ततो यत्रानन्यत्वान्यत्वाभ्यामवचनीयता तत्र विकारहानिः साध्यते। यत्र च विकारहानिस्तत्र कर्तृकार्यत्वाभाव इति कालान्तरस्थेऽपि महदादौ न कर्तृकार्ये। पृथक्त्वापृथक्त्वावचनीयताया विकारहानेरिति वाक्यभेदेनापृथक्त्वे पृथक्त्वे च व्यक्ताव्यक्तयोरपृथक्त्वपृथक्त्वाभ्यामवचनीयतायां चेति पक्षत्रयेऽपि दूषणं योजनीयम्। तथा च सांख्यानामपि जिन! तव विद्विषां वृथा श्रमः सकलो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिलक्षणयोगांगानुष्ठानप्रयासः खेदो वृथैव स्याद्वैशेषिकनैयायिकानामिवेति वाक्यार्थः। तदेवं सर्वथैकान्तदोषं मतमन्यदीयमिति समर्थितं। जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयमिति प्रकाशितं च। ततस्त्वमेव महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशा एव वयमिति प्रकृतसिद्धिः।

साम्प्रतं चार्वाकमतमनूद्य दूषयन्ति—

मद्यांगवद् भूतसमागमे ज्ञः
शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टै-

निर्ह्रीभयैर्हा ! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

टीका—मद्यांगानि पिष्टोदकगुडधातक्यादीनि तेष्विव तद्धेतुभूतानि पृथिव्यप्तेजोवायुतत्त्वानि तेषां समागमः समुदाय-स्तस्मिन्सति ज्ञश्चेतनः परिणामविशेषः सुखदुःखहर्षविषादादि-विवर्त्तात्मको गर्भादिमरणपर्यन्तः प्रादुर्भवत्याविर्भवति वा कार्यवादाभिव्यक्तिवादाश्रयिणामिति भावः। पृथिव्यप्तेजो-वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञास्तेभ्यश्चै-तन्यमित्यत्र सूत्रे कार्यवादिभिरविद्धकर्मादिभिरुत्पद्यते इति क्रियाध्याहारात्, तथाऽभिव्यक्तिवादिभिः पुरंदरादिभिरभि-व्यज्यत इति क्रियाध्याहारात्। भूतसमागमे ज्ञ इति भूतसमु-दायस्य परंपरया कारणत्वमभिव्यंजकत्वं वा प्रत्येयं। साक्षा-च्छरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेभ्य एव ज्ञस्योत्पादाभिव्यक्तिवचनात् अहं चक्षुषा रूपं जानामीति ज्ञातुः प्रतीतेस्तेषामन्यतमस्याप्य-पाये ज्ञस्याप्रतीतेर्ज्ञानक्रियायाः कर्तृकरणकर्मनान्तरीयकत्वात्। तत्र शरीरसंज्ञस्य कर्तृत्वाच्चैतन्यविशिष्टकायव्यतिरेकेणापरस्या-त्मनस्तत्त्वांतरस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रतिपत्तेश्चक्षुरादींद्रियसंज्ञस्य करणत्वाच्चैतन्यविशिष्टेन्द्रियव्यतिरेकेण करणस्याऽसंप्रत्ययात्। विषयसंज्ञस्य वा कर्मत्वात्तस्य ज्ञेयतयाऽवस्थितत्वात्। न च मृतशरीरेन्द्रियविषयेभ्यश्चैतन्यस्यानुदयदर्शनात्तेभ्यश्चैतन्यमिति दुःसाधनं, चैतन्यविशिष्टानामेव जीवशरीरेन्द्रियविषयसंज्ञानां संज्ञाननिबंधनत्ववचनात्, कुतः पुनर्भूतानां सर्वेषामपि समागमे

१ क पुस्तके 'अविद्धकर्मादिभि.' नास्त्ययंपाठ.।

शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा असंभवंत्यः प्रतिनियम्यंते? शरीराद्यारं-
भकभूतानामेव समुदाये सति संभवंति न पुनः पिठरादिभूत-
समुदय इति न चोद्यं तेषां शक्त्यन्तरव्यक्तेः। यथैव हि मद्यां-
गानां पिष्टोदकादीनां समागमे मदहेतोः शक्त्यंतरस्य व्यक्ति-
स्तथा पृथिव्यादिभूतानां ज्ञानहेतोः शक्त्यंतरस्य व्यक्तिः
स्यात्। तर्हि शक्त्यंतरव्यक्तिप्रतिनियतेष्वेव भूतेषु समुदितेषु
संभवन्ती दैवनिमित्ता स्यात्, दृष्टकारणाव्यभिचारदिति च न
शंकनीयं दैवस्य तत्सृष्टिनिमित्तस्य कादाचित्कतया दैवान्त-
रात्सृष्टिप्रसंगात्। यदि पुनर्दैवव्यक्तिः कादाचित्क्यपि स्वा-
भाविकीति न तस्या दैवात्सृष्टिः परस्मादन्यथानवस्थाप्रसंगा-
दिति मतं तदा शक्त्यंतरव्यक्तिरप्यदैवसृष्टिः सिद्धा सुदूरम-
पि गत्वा स्वभावस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात्। शक्त्यंतरं हि
शक्तिविशेषोऽन्तरशब्दस्य विशेषवाचिनः प्रयोगात् ततो यथा
मद्यांगानां समागमे कालविशेषविशिष्टे पात्रादिविशेषविशिष्टे
चाऽविकलेऽनुपहते च मदजननशक्तिविशेषव्यक्तिरदैवसृष्टि-
र्दृष्टा मद्यांगानामसाधारणानां साधारणानां च समागमे सति
स्वभावत एव भावात्, तथा ज्ञानहेतुशक्तिविशेषव्यक्तिरप्य-
दैवसृष्टिरेव ज्ञानांगानां भूतानामसाधारणानां च समागमे सति
स्वभावत एव भावात्, ज्ञानजननसमर्थस्यैव कललादिशरीर-
स्यासाधारणस्य शरीरसंज्ञत्ववचनात्तथा ज्ञानक्रियायां साधक-
तमस्यैवेन्द्रियस्यासाधारणस्येन्द्रियसंज्ञत्वसिद्धेर्विषयस्य च ज्ञा-
नक्रियाश्रयस्यैवासाधारणस्य विषयसंज्ञत्वोपपत्तेर्न सर्वे श-

रीरादयः शरीरादिसंज्ञात्वं लभन्ते यतः प्रतिनियमो न स्या-
त्कालाहारादेरेव साधारणस्यानियमात्ततो दृष्टनियतानियत-
कारणसृष्टित्वाच्चैतन्यशक्त्यभिव्यक्तेर्न सा दैवसृष्टिर्मदशक्त्य-
भिव्यक्तिवद्विरेचनशक्त्यभिव्यक्तिवद्वा, हरीतक्यादिसमुदये न
हि देवतां प्राप्य हरीतकी विरेचयतीति युक्तं वक्तुं कदाचि-
त्ततः कस्यचिदविरेचनेऽपि हरीतक्यादियोगस्य पुराणत्वादिना
शक्तिवैकल्यस्यैव सिद्धेरुपयोक्तुः प्रकृतिविशेषस्य चाप्रती-
तेरिति यैरभिमन्यते तैर्मृदवः प्रलब्धाः, सुकुमारप्रज्ञानामेव
मृदूनां विप्रलंभयितुं शक्यत्वात्।कीदृशैस्तैर्निर्हीभयैः शिश्नो-
दरपुष्टतुष्टैरिति। ये हि स्त्रीपानादिव्यसनिनो निर्लज्जा निर्भ-
यास्त एव मृदून् विप्रलभंते परलोकिनोऽभावात् परलोका-
भावः पुण्यपापकर्मणस्तु दैवस्याभावात् तत्साधनस्य शुभा-
शुभानुष्टानस्याभाव इति यथेष्टं प्रवर्त्तितव्यं, तपःसंयमादीनां
च यातनाभोगवंचनमात्रत्वादग्निहोत्रादिकर्मणोऽपि बालक्री-
डोपमत्वात्। तदुक्तम्—

तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवंचकः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म बालक्रीडेव लक्ष्यते॥

इति नानाविधविप्रलंभनवचनसद्भावात्। परमार्थतोऽनादिनिध-
नस्योपयोगलक्षणस्यात्मनो ज्ञस्य प्रमाणतः प्रसिद्धेः भूतसमागमे
ज्ञ इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः। तानि हि पृथिव्यादीनि भूतानि
कायाकारपरिणतानि संगतान्यपि अविकलानुपहतवीर्याणि
चैतन्यशक्तिं सतीमेव प्रागसतीमेव वाऽभिव्यंजयेयुः सदसतीं

वा ? गत्यंतराभावात्। प्रथमकल्पनायामनादित्वसिद्धिरनंतत्व-सिद्धिश्च चेननाशक्तेः सर्वदा सत्या एवाभिव्यक्तिसिद्धेः। तथा हि—कथंचिन्नित्या चैतन्यशक्तिः सदकारणत्वात्पृथिव्यादि-सामान्यवत् न पृथिव्यादिव्यक्त्यानेकान्तस्तस्यास्तत्सत्त्वेऽपि सकारणत्वात्, नाऽपि प्रागभावेन व्यभिचारस्तस्याकारणत्वेऽपि सद्रूपत्वासिद्धेस्ततः समुदितो हेतुर्न व्यभिचारी सर्वथा वि-पक्षाद्व्यावृत्तत्वात् तत एव न विरुद्धो, नाप्यसिद्धः सतोऽभिव्यं-ग्यस्य सदकारणत्वसिद्धेरभिव्यंजकस्याकारणत्वात्। ननु च मद्यांगैः पिष्टोदकादिभिरभिव्यज्यमानाऽपि मदशक्तिः प्राक्सती न नित्याभ्युपेयते ततस्तया सदकारणया व्यभिचार एव हेतोरिति चेत्, न तस्या अपि कथंचिन्नित्यत्वसिद्धेश्चेतनद्रव्यस्यैव मद-शक्तिस्वभावत्वात् सर्वथाऽप्यचेतनेषु मदशक्तेरसंभवात्। मनसो मदशक्तिरिति चेत्, न तस्याप्यचेतनत्वाद्भावमनस एव चेतनस्य मदशक्तिसंभवात्। एतेनेन्द्रियाणामचेतनानां मदशक्तेरसंभवः प्रतिपादितः। भावेन्द्रियाणां तु चेतनानामेव मदशक्तिसंभा-वनायां न किंचिदचेतनद्रव्यं माद्यति नाम मद्यभाजनस्यापि मदप्रसंगात्। न चैवं मुक्तानामपि मदशक्तिः प्रसज्यते तेषां तदाभिव्यक्तिकारणासंभवात्। मदशक्तेर्हि वहिरंगकारणमभि व्यक्तौ मद्यादि चेतनस्यात्मनस्तस्यानियतत्वात्। अन्तरंगं कारणं मोहनीयाख्य। न च मुक्तानां तदुभयकारणमस्ति यत-स्तेषां मदशक्तेरभिव्यक्तिः स्यात्। तत्रानभिव्यक्ता मदशक्ति-रस्त्विति चेत्, सा यदि चैतन्यद्रव्यरूपा तदास्त्येव, मोहो-

द्यरूपा तु न संभवति मोहस्यात्यंतपरिक्षयात्कर्मान्तरवत्, तन्न मदशक्त्या व्यभिचारः साधनस्य, मदजननस्य शक्त्या मद्यांगसमागमेनाभिव्यज्यमानया सत्यो(?)कारणया व्यभिचार इति चेत्, न तस्याः सुरांगसमागमकार्यत्वात्, ततः पूर्वं प्रत्येकं पिष्टादिषु तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् । एतेन मोहोदयनिमित्तयाऽऽत्मनो मदशक्त्या पराभ्युपगतया व्यभिचारोद्भावनमपास्तं तस्याश्च मोहोदयकार्यत्वात्क्षीणमोहस्यासंभवात् ततो निरवद्यो हेतुश्चैतन्यशक्तेर्नित्यत्वसाधने सदकारणत्वादिति सिद्धः परलोकित्वमनिच्छतां न सती चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यत इति वक्तव्यं । यदि पुनः प्रागसती चैतन्यशक्तिरभिव्यज्यते तदा (क[1]) प्रतीतिविरोधः सर्वथाप्यसतः कस्यचिदभिव्यक्त्यदर्शनात् । कथंचित्सती वासती वाऽभिव्यज्यत इति चेत्, परमतसिद्धिः, कथंचिद् द्रव्यतः सत्याश्चैतन्यशक्तेः पर्यायतश्चासत्याः कायाकारपरिणतपुद्गलैरभिव्यक्तेरभीष्टत्वात्स्याद्वादिभिस्ततो विप्रलब्धा एव चैतन्यशक्त्यभिव्यक्तिवादिभिः सुकुमारप्रज्ञाः, सर्वथा चैतन्याभिव्यक्तेः प्रमाणबाधितत्वात् । येषां तु भूतसमागमकार्यं चैतन्यशक्तिस्तेषां सर्वचैतन्यशक्तीनामविशेषप्रसंगात् प्रतिप्राणि बुद्ध्यादिचैतन्यविशेषो न स्यात् ।

प्रतिसत्त्वं भूतसमागमस्य विशिष्टत्वात्तद्विशेषसिद्धिरिति वदन्तं प्रति प्राहुः सूरयः--

---

१ "क" चिह्नात् 'ख' चिह्नपर्यन्तः पाठः प्रथमपुस्तके न वर्त्तते ।

दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ
विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्।
स्वभावतः। किं न परस्य सिद्धि-
रतावकानामपि हा प्रपातः॥३६॥

टीका—दृष्ट एवाविशिष्टे हेतौ पृथिव्यादिसमुदये तन्नि-मित्ते वा शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञेऽभ्युपगम्यमाने दैवसृष्टेरनभ्युप-गमात् का नाम विशिष्टता सत्त्वं सत्त्वं प्रति भूतसमागमस्य स्यात्, न काचिद्विशिष्टता संभवतीत्यर्थः। स्वभावत एव विशिष्टभूतानामिति चेत्, (स्व) परस्याऽपि पृथिव्यादि-भूतेभ्योऽन्यस्यापि पंचमस्यात्मतत्त्वस्य सिद्धिः किं न स्यात् किं भूतकार्यचैतन्यवादेन ?

स्यान्मतं, कायाकारपरिणतभूतकार्यत्वाच्चैतन्यस्य स्वभा-वतः सिद्धिस्तर्हि भूतानि किमुपादानकारणं चैतन्यस्य सह-कारिकारणं वा ? यद्युपादानकारणं तदा चैतन्यस्य भूतान्वय-प्रसंगः सुवर्णोपादाने किरीटादौ सुवर्णान्वयवत्। पृथिव्याद्यु-पादाने वा काये पृथिव्याद्यन्वयवत्। प्रदीपोपादानेन कज्जलेन प्रदीपानन्वितेन व्यभिचार इति चेत्, न कज्जलस्य प्रदीपो-पादानत्वासिद्धेः। प्रदीपज्वाला हि प्रदीपज्वालान्तरस्योपादानं न कज्जलस्य, तस्य तैलवर्त्युपादानत्वात्, प्रदीपकलिकां सहका-रिणीमासाद्य तैलं कज्जलरूपेण परिणामदृष्टं गच्छदुपलभ्यते। न च तत्तैलान्वितं रूपादिभिः समन्वयदर्शनात्। एकस्य

पुद्गलद्रव्यस्य तैलरूपतां परित्यज्य कज्जलरूपतामासादयतः प्रदीपसहकारिविशेषवशाद्रूपादिनान्वितस्य प्रतीतिसिद्धस्यान्यथा वक्तुमशक्तेः, त्यक्तात्यक्तात्मरूपस्य पूर्वापूर्वेण वर्त्तमानस्य कालत्रयेऽपि विषयस्य द्रव्यस्योपादानत्वसिद्धेः । तदुक्तम्—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्त्तते ।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥

न चैवं भूतसमुदायः पूर्वमचेतनाकारं परित्यज्य चेतनाकारं गृह्णन् धारणेरणद्रवोष्णतालक्षणेन भूतस्वभावेनान्वितः संलक्ष्यते चैतन्यस्य धारणादिस्वभावरहितस्य संवेदनात् । न चात्यंतविजातीयं कार्यं कुर्वाणः कश्चिदर्थः प्रतीयते पारदादिः पारदीयं कुर्वन्नपि नात्यंतविजातीयं कुरुते रूपादित्वेन सजातीयत्वात्, तर्हि चैतन्यमपि नात्यंतविजातीयं भूतसमुदायः कुरुते । तस्य सत्त्वार्थक्रियाकारित्वादिभिर्धर्मैः सजातीयत्वादिति चेत्, किमिदानीं जलानलादीनां परस्परमुपादानोपादेयभावो न भवेत् तत एव तेषां तत्त्वान्तरत्वात् । धारणाद्यसाधारणपरस्परविलक्षणत्वान्नोपादानोपादेयभाव इति चेत्, किमेवंभूतचैतन्ययोरसाधारणलक्षणयोः परस्परविलक्षणयोरुपादानोपादेयभावोऽभ्यनुज्ञायते । धारणादिलक्षणं हि भूतचतुष्टयमुपलभ्यते न चैतन्यं तदपि ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणमुपलक्ष्यते न भूतचतुष्टयमिति न परस्परविलक्षणलक्षणत्वं भूतचैतन्ययोरसिद्धं ततो नोपादानोपादेयभावो युक्तः । साधारणसत्त्वादिधर्मसाधर्म्यमात्रात्तयोरुपादानोपादेयत्वेऽतिप्रसं-

भस्य दुर्निवारत्वात् । यदि पुनः सहकारिकारणं भूतसमुदयश्चैतन्योत्पत्तौ प्रतिपाद्यते तदोपादानकारणमन्यद्वाच्यं, निरुपादानस्य कस्यचित्कार्यस्यानुपलब्धेः । शब्दविद्युत्प्रदीपादिवन्निरुपादानं चैतन्यमिति चेत् , न, तस्यापि स्वोपादानत्वसिद्धेः । तथा हि स्वोपादानकारणपूर्वकः शब्दादिः कार्यत्वात्पटादिवत् । किं पुनस्तस्योपादानं ताल्वादिसहकारिव्यतिरिक्तं दृष्टमिति चेत् , शब्दादिपुद्गलद्रव्यमिति ब्रूमस्तथा हि शब्दादिः पुद्गलद्रव्योपादान एव बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवत् । सामान्येन व्यभिचार इति चेत् , न, तस्यापि मूर्त्तद्रव्याधारस्य सदृशपरिणामलक्षणस्य बाह्येन्द्रियग्राह्यस्य पुद्गलद्रव्योपादानत्वसिद्धेः । तथा सति सामान्यस्यानित्यत्वप्रसंगः इति चेत् , कथंचिदिष्टत्वाददोष इति सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य स्वप्रत्ययहेतुत्वनिरोधात् । द्रव्येण संग्रहनयविषयेण सामान्येनानेकांत इति चेत् , न तस्याप्यतीन्द्रियस्य बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात्तेन व्यभिचाराभावात् । यत्र बाह्येन्द्रियग्राह्यं पुद्गलस्कंधद्रव्यं व्यवहारनयप्रसिद्धं तत्सूक्ष्मपुद्गलोपादानमेवेति कथं तेनानेकांत इति च । ततो नानुपादानं शब्दादिकमस्ति यतस्तद्वत्सहकारिमात्राच्चैतन्यमनुपादानमुत्पद्यते इति प्रपद्येमहि । न चोपादानसहकारिपक्षद्वयव्यतिरेकेण किंचित्कारणमस्ति येन भूतचतुष्टयं चैतन्यस्य जनकमुररीक्रियते । ततः स्वभावत एव चैतन्यस्य सिद्धिरस्तु पृथिव्यादिभूतविशेषवदिति तत्त्वान्तरसिद्धिस्तामपन्हवानामतावकानां दर्शनमोहोदयाकुलितचेतसां

जीविकामात्रतंत्राणां विचारयतामपि हा ! कष्टं प्रकृष्टः श्रांतः संसारसमुद्रावर्त्तपतनलक्षणः संजात इति सूरयः करुणाविषयत्वं दर्शितवन्तः ।

दीक्षात एव मुक्तिरिति मन्यमानान्मंत्रिणः प्रत्याहुः—

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टिवाह्या वत विभ्रमंति ॥ ३१ ॥

टीका—हिंसाऽनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहा उच्चैरनाचारपथाः पंच महापातकानि तेष्वनुष्ठीयमानेष्वप्यदोषं निर्घोषयन्ति केचित्, स्वभावत एव जगतः स्वच्छन्देन वृत्तेरित्युपपत्तिमाचक्षते । तथा हि—जगतोऽनाचारपथा महान्तोऽपि न दोषहेतवः स्वभावतो यथेच्छंवर्त्तमानत्वात् प्रसिद्धजीवन्मुक्तवदिति निर्घुष्य दीक्षासमकालां मुक्तिं मन्यन्ते । दीक्षया समा समकाला दीक्षासमा सा चासौ मुक्तिश्च सा दीक्षासममुक्तिस्तस्यां मानोऽभिमानो येषां ते दीक्षासममुक्तिमाना इति पदघटना । ते च त्वद्दृष्टेर्बंधमोक्षतत्कारणनिश्चयनिबंधनस्याद्वाददर्शनात् वाह्याः सर्वथैकांतवादित्वात् विभ्रमंत्येव केवलं वत कष्टं, पुनस्तत्त्वनिश्चयं नासादयन्तीत्यर्थः । दीक्षा हि मंत्रविशेषारोपणमुपसन्नमनसीष्यते, सा च यदि यमनियमसहिता तदा त्वद्दृष्टिरेवेति भगवद्दर्शनादवाह्या एव दीक्षावादिनस्तथा तत्त्वविनिश्चयमासेः ।

अथ यमनियमरहिता दीक्षा कक्षीक्रियते तदा न सा दोषविपक्ष-
भूताऽनाचारप्रतिपक्षभूता वा यतोऽनाचारक्षयकारिणी स्यात्,
न चानाचारक्षयकारणमन्तरेण दीक्षासमकालमेव मुक्तिर्युक्ति-
मवतरत्यतिप्रसंगात् । स्यान्मतिरेषा भवतां समर्था दीक्षोच्चैर-
नाचारपथमथनपटीयसी न पुनरसमर्था यतो दीक्षासमये एवा-
ऽनाचारनिराकरणमुपसन्नजनानामनुषज्यत इति साऽपि न
श्रेयसी दीक्षायाः सामर्थ्येऽपि तत्समकालं मुक्त्यनवलो-
कनात् । तथा हि—सामर्थ्यं दीक्षायाः स्वभावभूतमर्थान्तर-
भूतं वा ? स्वभावभूतं चेत्, कथं कदाचित् क्वचित् कस्याश्चि-
देव स्यात् । दीक्षातोऽर्थान्तरभूतं सामर्थ्यमिति चेत्
तत्किं कालविशेषरूपं देशविशेषरूपं दक्षिणादिविशेषरूपं
वा ? कालविशेषरूपं चेत्, न, तिथिवारनक्षत्रवेलादिकाल-
विशेषस्याविशेषेऽपि कस्यचिद्दीक्षासमकाले मुक्त्यदर्शनात् ।
क्षेत्रविशेषसामर्थ्यमिति चेत्, न तीर्थस्नानदेवतालयमंड-
लादिविशेषसाम्येऽपि कस्याचिन्मुक्त्यभावात् । दक्षिणादिवि-
शेषरूपं सामर्थ्यमिति चेत्, न, गुरुदक्षिणायां यथोक्तायां
सत्यामपि विनयप्रणामननमस्कारात्मसमर्पणसद्भावेऽपि चो-
च्चैरनाचारपथप्रवृत्तिदर्शनात् । सकला सामग्री श्रद्धाविशेषो-
पगृहीतद्रव्यगुणकर्मलक्षणा निवर्त्तकधर्मविशेषजनिका दीक्षायाः
सामर्थ्यमिति चेत्, कः पुनः श्रद्धाविशेषो नाम ? हेये जिहासा
तद्वदुपादेये चोपादित्सा श्रद्धाविशेष इति चेत्, तर्हि हेयं
दुःखमनारतं तत्कारणं च मिथ्यादर्शनं रागादिदोषश्चेति

कथमनाचारपथेष्वदोषो निर्घुष्यते । श्रद्धाविशेषश्च सम्यग्द-र्शनं तदनुगृहीता दीक्षा सम्यग्ज्ञानपूर्विका सम्यक्चारित्रमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयादेव सात्मीभावमापन्नान्मुक्तिरुक्ता स्यात्तथा च त्वद्दृष्टिरेव श्रेयसी । तद्बाह्यास्तु विभ्रमन्त्येवेति सूक्तम् ।

अथवा दीक्षासं यथा भवत्येवमसुक्तिमाना मीमांस-कास्त्वद्दृष्टिबाह्या वत कष्टं विभ्रमंति ! किं कृत्वा उच्चैरना-चारपथेष्वदोषं निर्घुष्य—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।"

इति वचनात् । कुत : ? इत्युपपत्तिमाचक्षते-स्वच्छंदवृत्तेर्ज-गतः स्वभावादिति प्रवृत्तिरेव भूतानामिति वचनात्, न कदा-चिदनीदृशं जगदित्यभ्युपगमाच्च । कुतस्तेषां विभ्रम इति चेत्, दोषेऽप्यदोषनिर्घोषणात् वेदविहितेषूच्चैरनाचारपथेषु पशुवधा-दिष्वदोषो निर्घुष्यते न पुनर्वेदवाह्येषु ब्रह्महत्यादिषु तत्र दोष-स्यैव निर्घोषणात्, "ब्राह्मणो न हन्तव्यः सुरा न पातव्येति" निषेधवचनात् । स्वच्छन्दवृत्तेरपि जगतः स्वभावाद्वेदेन श्रेयः-प्रत्यवायसाधनप्रकाशिना नियमितत्वात्, तथा वेदविहितदीक्षा-याश्चाप्रतिक्षेपात् पाखंडिदीक्षाया एव निरसनात् । नामुक्तिमानाः श्रोत्रियाः परमब्रह्मपदावाप्तिलक्षणस्य मोक्षस्यानंदरूपस्य तैः स्वयमभ्युपगमात् । अनंतज्ञानादिरूपाया एव मुक्तेर्निराकर-णादिति केचित् तेऽपि स्वगृहमान्या एव, वेदविहितेष्वप्य-नाचारेषु दोषाभावस्य व्यवस्थापयितुमशक्तेः । खारपटिकशा-

स्वविहितेषु सधनगर्भिणीवधादिषु दोषाभावानुषंगात्। खारपटिकागमज्ञानस्याप्यप्रमाणत्वान्न तद्विहितेष्वनाचारेषु दोषाभावप्रसंग इति चेत्, वेदज्ञानस्य कुतः प्रामाण्यं येन तद्विहितेषु पशुवधादिषु दोषाभावो व्यवतिष्ठते। दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यमानत्वादिति चेत्, न स्वरूपेऽपि वेदज्ञानस्य प्रामाण्यप्रसंगात्, दोषाश्रयपुरुषेणाकृतस्य स्वरूपवादस्यापि सिद्धेः।

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

कार्यवादवत् दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यमानत्वाविशेषात् बाधवर्जितत्वाच्चोदनाज्ञानस्य प्रामाण्यमिति चेत्, नासिद्धत्वादनाचारविधायिनश्चोदनाज्ञानस्य बाधसद्भावात्। तथा हि—पशुवधादयः प्रत्यवायहेतव एव प्रमत्तयोगात्प्राणातिपातादित्वात् खरपटागमविहितसधनवधादिवत्। प्रमत्तयोगोऽसिद्ध इति चेत् न, काम्यानुष्ठानस्य रागादिप्रमादपूर्वकस्य प्रमत्तयोगनिबंधनत्वात्। सत्यपि रागादिप्रमादयोगे पशुवधादिषु प्रत्यवायासंभवे सधनवधादिष्वपि कुतः प्रत्यवायः संभाव्यते सर्वथा विशेषाभावात्। पशुवधादीनां स्वर्गादिश्रेयःसाधनत्वान्न प्रत्यवायसाधनत्वमिति चेत्, न सधनवधादीनामपि धनैश्वर्यादिश्रेयःसाधनत्वात् प्रत्यवायहेतुत्वं मा भूत्, तदात्वस्तोकश्रेयःसाधनत्वेऽपि सधनवधादीनां पारत्रिकबृहत्प्रत्यवायसाधनत्वमपि विरुद्धमेवेति चेत्तर्हि पशुवधादीनामपि पशुलाभार्थलाभादिस्वल्पश्रेयःसाधनत्वेऽपि पारत्रिकबृहत्प्रत्य-

आयसाधनत्वादेव स्वर्गादिश्रेयःसाधनत्वं माभूद्विरोधात्। ऋत्विगादिदक्षिणाविशेषादीनानाथसकलजनानंदिदानविशेषाच्च श्रद्धापूर्वकव्रतनियमाभिसंबंधाच्च यजमानस्य स्वर्गादिश्रेयःसाधनत्वं पशुवधेऽपि न विरुध्यत इति चेत् किमेवं पशुवधादिना, दाक्षिण्यादिभ्य एव श्रेयःसंप्राप्तेस्तदभावे प्रत्यवायस्यैव सिद्धेस्तस्य श्रेयःसाधनत्वासंभवात्। कथं चायं सधनवधकादीनामपि दानादिविधायिनां धर्माद्यभिसंधिश्रद्धाविशेषशालिनां स्वागमविहितमार्गादिगामिनां स्वर्गादिश्रेयःप्राप्तिप्रतिषेधसमर्थः। ननु च धर्माभिसंधीनां सधनवधादिरधर्महेतुर्विरुद्ध इति चेत्, पशुवधादिस्तादृक् कथमविरुद्धः? तथा वेदविहितत्वादिति चेत् खरपटशास्त्रविहितत्वात्सधनवधादिरपि विरुद्धो मा भूत्। धनलोभादिनिबंधनत्वात् सधनवधादेर्धर्माभिसंधिविरोधे स्वर्गादिलोभनिमित्तत्वात्पशुवधादेर्धर्माभिसंधिविरोधोऽस्तु विशेषाभावात्। दृष्टार्थधनलोभादेरदृष्टार्थस्वर्गादिलोभादीनां महत्त्वाच्च तन्निबंधनस्यैव पशुवधादेर्धर्मविरोधो महानेवेति च युक्तं वक्तुं। नन्वनंतनिर्वाणसुखलोभनिबंधनस्य स्वपरकायपरितापनस्याप्येवं धर्मविरोधः कथं महत्तमो न स्यादिति चेत् न, योगिनां निर्वाणसुखश्रद्धायामपि लोभाभावादिति ब्रूमस्तेषामात्मस्वरूपप्रतिबंधिकर्ममलविगमायैव समाधिविशेषप्रवृत्तेः क्वचिल्लोभमात्रेऽपि निर्वाणप्राप्तिविरोधात्। तदुक्तम्—"मोक्षेऽपि न यस्य कांक्षा स मोक्षमधिगच्छतीति"। तर्हि याज्ञिकानामपि प्रत्य-

स्वविहितेषु सधनगर्भिणीवधादिषु दोषाभावानुषंगात्। खार-धटिकागमज्ञानस्याप्यप्रमाणत्वान्न तद्विहितेष्वनाचारेषु दोषा-भावप्रसंग इति चेत्, वेदज्ञानस्य कुतः प्रामाण्यं येन तद्वि-हितेषु पशुवधादिषु दोषाभावो व्यवतिष्ठते। दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यमानत्वादिति चेत्, न स्वरूपेऽपि वेदज्ञानस्य प्रामा-ण्यप्रसंगात्, दोषाश्रयपुरुषेणाकृतस्य स्वरूपवादस्यापि सिद्धेः।

तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम्।
अदुष्टकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम्॥

कार्यवादवत् दोषवर्जितैः कारणैर्जन्यमानत्वाविशेषात् बाधवर्जितत्वाच्चोदनाज्ञानस्य प्रामाण्यमिति चेत्, नासि-द्धत्वादनाचारविधायिनश्चोदनाज्ञानस्य बाधसद्भावात्। तथा हि—पशुवधादयः प्रत्यवायहेतव एव प्रमत्तयोगात्प्राणातिपाता-दित्वात् खरपटागमविहितसधनवधादिवत्। प्रमत्तयोगोऽसिद्ध इति चेत् न, काम्यानुष्ठानस्य रागादिप्रमादपूर्वकस्य प्रमत्त-योगनिबंधनत्वात्। सत्यपि रागादिप्रमादयोगे पशुवधादिषु प्रत्यवायासंभवे सधनवधादिष्वपि कुतः प्रत्यवायः संभाव्यते सर्वथा विशेषाभावात्। पशुवधादीनां स्वर्गादिश्रेयःसाधन-त्वान्न प्रत्यवायसाधनत्वमिति चेत्, न सधनवधादीनामपि धनै-श्वर्यादिश्रेयःसाधनत्वात् प्रत्यवायहेतुत्वं मा भूत्, तदात्व-स्तोकश्रेयःसाधनत्वेऽपि सधनवधादीनां पारत्रिकदूरतरप्र-त्यवायसाधनत्वमपि विरुद्धमेवेति चेत्तर्हि पशुवधादीनामपि पशुलाभार्थलाभादिस्वल्पश्रेयःसाधनत्वेऽपि पारात्रिकदूरतरप्रत्य-

त्यायसाधनत्वादेव स्वर्गादिश्रेयःसाधनत्वं माभूद्विरोधात्। ऋत्विगादिदक्षिणाविशेषाद्दीनानाथसकलजनानंदिदानविशेषाच्च श्रद्धापूर्वकव्रतनियमाभिसंबंधाच्च यजमानस्य स्वर्गादिश्रेयःसाधनत्वं पशुवधेऽपि न विरुध्यत इति चेत् किमेवं पशुवधादिना, दाक्षिण्यादिभ्य एव श्रेयःसंप्राप्तेस्तदभावे प्रत्यवायस्यैव सिद्धेस्तस्य श्रेयःसाधनत्वासंभवात्। कथं चायं सधनवधकादीनामपि दानादिविधायिनां धर्माद्यभिसंधिश्रद्धाविशेषशालिनां स्वागमविहितमार्गादिगामिनां स्वर्गादिश्रेयःप्राप्तिप्रतिषेधसमर्थः। ननु च धर्माभिसंधीनां सधनवधादिरधर्महेतुर्विरुद्ध इति चेत्, पशुवधादिस्तादृक् कथमविरुद्धः? तथा वेदविहितत्वादिति चेत् खरपटशास्त्रविहितत्वात्सधनवधादिरपि विरुद्धो मा भूत्। धनलोभादिनिबंधनत्वात् सधनवधादेर्धर्माभिसंधिविरोधे स्वर्गादिलोभनिमित्तत्वात्पशुवधादेर्धर्माभिसंधिविरोधोऽस्तु विशेषाभावात्। दृष्टार्थधनलोभादेरदृष्टार्थस्वर्गादिलोभादीनां महत्त्वाच्च तन्निबंधनस्यैव पशुवधादेर्धर्मविरोधो महानेवेति च युक्तं वक्तुं। नन्वनंतनिर्वाणसुखलोभनिबंधनस्य स्वपरकायपरितापनस्याप्येवं धर्मविरोधः कथं महत्तमो न स्यादिति चेत् न, योगिनां निर्वाणसुखश्रद्धायामपि लोभाभावादिति ब्रूमस्तेषामात्मस्वरूपप्रतिबंधिकर्ममलविगमायैव समाधिविशेषप्रवृत्तेः क्वचिल्लोभमात्रेऽपि निर्वाणप्राप्तिविरोधात्। तदुक्तम्—"मोक्षेऽपि न यस्य कांक्षा स मोक्षमधिगच्छतीति"। तर्हि याज्ञिकानामपि प्रत्य-

वायजिहासया नित्यनैमित्तिकयोर्वेदविहितयोः प्रवृत्तेर्न स्वर्गादिलोभनिबंधनत्वमिति चेत्, किमेवं खारपटिकानां दौर्गत्यजिहासया सधनवधादिषु प्रवृत्तिर्धनलोभनिबंधनाऽभिधीयते? दौर्गत्यजिहासैव धनलोभ इति चेत्, प्रत्यवायजिहासैव स्वर्गादिश्रेयोलोभः कथं न स्यात्। न चैवं योगिनां संसारकारणक्रोधलोभादिनिराचिकीर्षैव निश्रेयसो लोभ इति वक्तुं युक्तं व्याघातात्, मोक्षार्थिनां सर्वत्राप्रवृत्तेर्न लोभनिबंधना प्रवृत्तिरिति विषमोऽयमुपन्यासः। ततः सूक्तमिद पशुवधादियज्ञवादिनां वेदवाक्यानां बाधकमनुमानं, पशुवधादयः प्रत्यवायहेतवः प्रमत्तयोगात् प्राणातिपातादित्वात् सधनवधादिवदिति। चैत्यालयकरणादिषु नानाप्राणिगणप्राणातिपातादिभिरनेकांत इति चेत्, न प्रमत्तयोगादिति वचनात्, न च चैत्यालयकरणादिषु प्रमत्तयोगोऽस्ति सम्यक्त्ववर्धनक्रियायाः समीहितत्वात्, तत्राऽपि निदानकरणे प्रत्यवायहेतुत्वस्याभ्यनुज्ञानात् पक्षान्तरवर्तित्वान्न तैरनैकांतिकतोद्भावयितुं युक्ता। तन्न बाधवर्जितत्वेनाऽपि चोदनाप्रमाणं बाधकस्य व्यवस्थितेः खारपटिकशास्त्रवत् अप्रमाणकं चोद्यैर्म्नाचारपथेष्वदोषं निर्घोषयन्तः कथं न विभ्रमयंति मीमांसकाः।

इति त्वदृष्टिबाह्यानां कष्टमनिवार्यं ततस्तम एव प्ररूढं याज्ञिकानां सर्वचेष्टितमिति सूरयो निवेदयन्ति—

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरिक्तै-

रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शांतिरपि प्ररूढं
तमः परेषां तव सुप्रभातम् ॥ ३८ ॥

टीका—हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेषु नियममंतरेण प्रकर्षेण वृत्तिः प्रवृत्तिस्तत्र रक्ता मीमांसकास्तथाऽभिनिवेशात् । तैरुपेत्य प्रवृत्तिं स्वयं प्रतिपद्य हिंसाभ्युदयस्य स्वर्गादेरंगं कारणं निष्ठा, किंभूतैस्तैः शमतुष्टिरिक्तैरिति हेतुवचनं तेन शमतुष्टिरिक्तत्वादित्यर्थः, क्रोधादिशान्तिः शमः, तुष्टिः सन्तोषः शमेन तुष्टिः शमतुष्टिस्तया रिक्तैरिति प्रत्येयं । तदेतत्प्ररूढं बृहत्तमं तमः परेषां यज्ञवादिनामज्ञानत्वमित्यर्थः, तथाप्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं तमः परेषां तस्याः शांतिप्रतिपक्षित्वात् । प्रवृत्तिर्हि रागाद्युद्रेकस्य कारणं न पुनारागादिशान्तेर्व्याघातात् ।

स्यान्मतं, तेषां प्रवृत्तिर्द्वेधा, रागादिहेतुः शांतिहेतुश्च । तत्र या वेदवाक्येनाविहिता सा रागाद्युदयनिमित्तं यथा ब्राह्मणवधसुरापानादि । वेदविहिता तु शांतिहेतुर्यथा यज्ञे पशुवधादिस्तस्या अदृष्टार्थत्वात् क्रोधाद्युदयनिबंधनत्वाभावादिति । तदप्यसत् । वेदविहितायाः प्रवृत्तेः शांतिहेतुत्वनियमानुपपत्तेः अन्यथा मातरमुपैहि स्वसारमुपैहीति वेदवाक्यविहिताया मातृस्वसृगमनलक्षणायाः प्रवृत्तेः शांतिहेतुत्वप्रसंगात् । वेदाविहितायाश्च प्रवृत्तेः सत्पात्रदानादिलक्षणायाः शांतिप्रतिपक्षत्वा-

पत्तेः। अथ मतमेतत्—परंपरया प्रवृत्तिरपि शांतिहेतुरुपपद्यत एव यथा देवताराधनादिप्रवृत्तिरिति। तदप्यसंभाव्यं, वेदविहितहिंसादिप्रवृत्तेः परंपरया शांतिहेतुत्वानुपपत्तेः। न च शान्त्यर्थिनः शांतिप्रतिकूलेषु हिंसादिषु वर्तमानाः प्रेक्षापूर्वकारिणः स्युर्मदाऽभावाय मद्यपाने प्रवर्त्तमानजनवत्। सत्पात्रदानदेवतार्चनादिषु स्वयमनभिसंधितसूक्ष्मप्राणिवधादिप्रवृत्तिस्तु परंपरया शांतिहेतुरुपपद्यत एव दर्शनविशुद्धिपरिग्रहपरित्यागप्रधानतया तस्याः समवस्थितत्वादन्यथा तद्भावविरोधात्। इति सूक्तमेतत् प्रवृत्तितः शांतिरिति वचनं महातमोविजृम्भितं परेषामिति ततस्तवैव मतं सुप्रभातं सकलतमोनिरसनपटीयस्त्वादिति सिद्धम्।

साम्प्रतं मतान्तरं निराचिकीर्षवः प्राहुः—

> शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै-
> र्देवान् किलाराध्य सुखाभिगृद्धाः।
> सिद्ध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा
> युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम्॥३९॥

टीका—शीर्षोपहारः स्वशिरोवलिश्छागादिशिरोवलिर्वा। स आदिर्येषां गुग्गुलधारणमकरभोजनभृगुपतनप्रकाराणां ते शीर्षोपहारादयस्तैरात्मदुःखैर्जीवदुःखनिमित्तैर्देवान् यक्षमहेश्वरादीनाराध्य सिध्यन्ति दोषापचयानपेक्षा दोषापचयमनपेक्षमाणाः सुखाभिगृद्धाः कामसुखादिलोलुपाः किलेति सूरयः प्रमा-

णानुपपन्नत्वेन रुचिं प्रकाशयन्ति। केषां पुनरिदं युक्तमित्यभिधीयते—"युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषा" मिति। येषां न त्वमृषिर्गुरुर्वीतदोषः सर्वज्ञस्वामी न भवसि तेषामेव मिथ्यादृशां युक्तं उपपन्नमेवैतत् प्ररूढं तमो न पुनर्येषां त्वं गुरुः शुद्धिशक्त्योः परां काष्ठामधितिष्ठन्नभिमतोऽसि तेषां सम्यग्दृष्टीनां हिंसादिविरतिचेतसां दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं त्वदीयं मतमद्वितीयं प्रतिपद्यमानानां नयप्रमाणविनिश्चितपरमार्थयथावतारिजीवादितत्त्वार्थप्रतिपत्तिकुशलमनसां प्रमादतोऽशक्तितो वा क्वचित्प्रवृत्तिमाचरतामपि तेषां तत्राभिनिवेशपाशानवकाशात्। तदित्थं समंतदोषं मतमन्यदीयं संक्षेपतो दर्शितम्। विस्तरतो देवागमे तस्य समन्तभद्रस्वामिभिः प्रतिपादनात् "भावैकान्ते पदार्थाना" मित्यादिना। तत एव त्वदीयं मतमद्वितीयमिति च समासतो व्यवस्थितं। व्यासतो देवागमे एव तस्य तथा व्यवस्थापितत्वात्, "कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथंचिदसदेव तद्" इत्यादिना। तथैव स्वामिभिरभिधानात्।

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
संप्राप्तस्य विशुद्धिशक्तिपदवीं काष्ठां परामाश्रिताम्।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम्॥

इति युक्त्यनुशासने परमेष्ठिस्तोत्रे प्रथमः प्रस्तावः।

अथ भेदाभेदात्मकं सामान्यविशेषात्मकमर्थतत्त्वं मदीयं मतमद्वितीयं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थत्वादस्तु नाम, केवलं सामान्यनिष्ठाः विशेषाः स्युर्विशेषनिष्ठं वा सामान्यं स्यादुभयं वा परस्परनिष्ठमिति भगवत्पर्यनुयोगे सूरयः प्राहुः—

"सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः" इति सामान्यं द्विविधमूर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं चेति। तत्रोर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यं। तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपं। तत्र सामान्ये निष्ठा परिसमाप्तिर्येषां ते सामान्यनिष्ठाः। के ते? विशेषाः पर्यायाः। किं प्रकाराः? विविधाः केचित् क्रमभुवः केचित् सहभुव एकद्रव्यवृत्तयः। तत्र क्रमभुवः परिस्पंदरूपा उत्क्षेपणादयः, अपरिस्पंदात्मकाः साधारणाः साधारणासाधारणाश्च असाधारणाश्चेति त्रिविधाः। साधारणधर्माः सत्त्वप्रमेयत्वादयः, साधारणासाधारणाः द्रव्यत्वजीवत्वादयः, असाधारणाः प्रतिद्रव्यं प्रभिद्यमानाः प्रतिनियता अर्थपर्याया इति विविधप्रकारा विशेषा एकद्रव्यनिष्ठत्वादूर्ध्वतासामान्यनिष्ठास्तद्व्यतिरेकेणासंभाव्यमानत्वात्। नन्वेवंविधं विशेषनिष्ठं सामान्यं कस्मान्न स्यादिति चेत्, न, कस्यचिद्विशेषस्यापायेऽपि सामान्यस्य विशेषान्तरेषूपलब्धेः सर्वविशेषनिष्ठत्वविरोधात्। कतिपयविशेषनिष्ठत्वे तु सामान्यस्य तदन्यविशेषाणां निःसामान्यत्वप्रसंगात्। विनष्टानुत्पन्नविशेषनिष्ठत्वे सामान्यस्य विनाशानुत्पादप्रसंगो व्याहतः प्रसज्येत। विशेषाणां विनाशेऽपि

सामान्यस्याविनाशेनागतत्वेऽपि वर्त्तमानत्वे च विरुद्धधर्माध्यासात् भेदप्रसंगान्न विशेषनिष्ठत्वं सामान्यस्य प्रसज्येतातिप्रसंगात् । विशेषेषु व्यक्तिरूपेषु द्रव्यगुणकर्मसु सामान्यस्य समवायाद्विशेषनिष्ठं सामान्यमिति चेत् न, तस्य तिर्यक्सामान्यरूपत्वात्, न चैतदपि विशेषनिष्ठं द्रव्यत्वस्य सकलद्रव्यव्यक्तिनिष्ठत्वे कार्यद्रव्यव्यक्तिविनाशप्रसंगात्कतिपयद्रव्यव्यक्तिनिष्ठत्वे द्रव्यव्यक्त्यंतराणां निःसामान्यत्वप्रसंगस्य तदवस्थत्वात् । नित्यसर्वगतत्वात् सामान्यस्यायमदोष इति चेत्, न, सर्वव्यक्तीनां नित्यत्वप्रसंगात्तत्र नित्यसामान्यस्य निष्ठानात् । यदि पुनर्व्यापकं सामान्यं (व्यक्तीनां) व्याप्यास्तु व्यक्तयस्ततो व्याप्याभावेऽपि व्यापकस्य सद्भावाविरोधात् सत्यपि नित्ये सामान्ये व्यक्तीनामभावाविरोधान्न नित्यतापत्तिरिति मतम् तदा सामान्यनिष्ठा एव विशेषाः स्युरवस्थिते सामान्ये विशेषाणामुत्पादाद्विनाशाच्चेति सिद्धाः सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः, न पुनर्विशेषनिष्ठं सामान्यं । एतेन परस्परनिष्ठमुभयमित्यपि पक्षः प्रतिक्षिप्तः ।

यदि सामान्यनिष्ठा विशेषास्तदा पदं किं विशेषं नयते सामान्यं वा तदुभयं वाऽनुभयं वेति शंकायामिदमभिधीयते सूरिभिः— " पदं विशेषान्तरपक्षपाति " विशेषं नयत इति विशेषो द्रव्यगुणकर्मभेदात् त्रिविधः । तत्र द्रव्ये प्रवर्त्तमानं पदं द्रव्यद्वारेण विशेषांतरं गुणं कर्म वा स्वीकरोतीति विशेषान्तरपक्षपाति, पक्षपातो हि स्वीकारः परिग्रहः सोऽस्यास्तीति

पक्षपाति विशेषांतरे पक्षपाति विशेषान्तरपक्षपाति। यथा दंडीतिपद संयोगिद्रव्यद्वारेण द्रव्ये देवदत्तादौ प्रवर्तमानं गुणमपि दंडपुरुषसंयोगलक्षणं परिगृह्णाति, कर्म च दंडगतं पुरुषगतं च परिस्पन्दलक्षणं विशेषान्तरं स्वीकरोतीति। तदस्वीकारणे दंडीतिपदस्य द्रव्ये प्रवृत्तिविरोधात्। तथा विषाणीति पदं समवायिद्रव्यविषयं समवायिविषाणिद्वारेण गवादिसमवायिनि प्रवर्तमानत्वात्। तत्र च विषाणिद्रव्ये प्रवर्त्तमानं तद्गुणमपि विशेषांतरं धवलादि गृह्णात्येव, क्रियां च विशेषांतरं गवादिगतं विषाणगतं वा स्वीकरोत्येवेति विशेषांतरपक्षपातीत्युच्यते। तथा शुक्ल इति पदं, गुणद्वारेण द्रव्ये प्रवर्त्तमानं गुणविषयतां स्वीकुर्वत्तदन्वयद्रव्यं विशेषांतरं परिगृह्णातीति विशेषान्तरपक्षपाति। तथा चरतीति पदं क्रियाद्वारेण द्रव्ये प्रवर्त्तमानं क्रियाविषयतां प्रतिपद्यमानमपि विशेषांतरं तदाधारद्रव्यं तदेकार्थसमवायि कर्म च स्वीकरोतीति विशेषांतरपक्षपाति सिद्धं, विशेषं नयत इति द्रव्यं गुणं कर्म च नयते प्रापयतीत्यर्थः।

चतुर्विध हि पदं नामाख्यातनिपातोपसर्गभेदात् केचिद्मंसत। कर्मप्रवचनीयं च पदमिति पचंविधमन्ये। तत्र नाम पदं किंचिद् द्रव्यमभिधत्ते गुणं वा, तद्वन्निपातपदं। आख्यातपदं तु क्रियामभिदधाति तथा चोपसर्गपदं तस्य क्रियोद्योतकत्वात्। कर्मप्रवचनीयपदं तु पारिभाषिकं कर्मेति संप्रतिपद्यते। तदेवं सुप्तिङन्तविकल्पाद्विविधमपि पदं चातुर्विध्यं पांचविध्यं वा समास्कन्दद्विशेषांतरवृत्तित्वसिद्धिशेषं नयते समान-

भावं समानत्वमिति। नयतेर्द्विकर्मकत्वादभिसंबंधः कर्त्तव्यस्तदनेन प्रधानभावेन द्रव्यादिव्यक्तिरूपं विशेषं गुणीभूतं सामान्यं पदं प्रतिपादयतीत्यभिहितम्। अन्यत्पदं जातिविषयं समानभावं सामान्यं विशेषं नयते यथा गौरिति पदं गोत्वजातिद्वारेण द्रव्ये प्रवर्त्तमानं जातिपदं स्वाश्रयभूतद्रव्यविशेषमपि सामान्यरूपं प्रापयति तथा गुणत्वजातिपदं गुणत्वजातिद्वारेण गुणे वर्त्तमानं गुणमपि स्वाश्रयं विशेषं जातिरूपतां नयते। तथा कर्मत्वजातिपदं कर्मत्वजातिद्वारेण कर्मणि प्रवर्तमानं कर्मापि स्वाधिकरणं विशेषं समानभावं नयते। कुत इत्युच्यते, "अन्तर्विशेषान्तरवृत्तितः" इति अन्तर्गतं विशेषांतरमस्येत्यंतर्विशेषान्तरः समानभावः समानपरिणामस्तत्र वृत्तेः प्रवर्त्तनात्पदस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः। तदेतेन प्रधानभूतसामान्यं गुणीभूतं विशेषं पदं प्रकाशयतीति निगदितं। ततो निर्विशेषमेव पदं न नयते सामान्यं निरपेक्षं तस्यासंभावात् खरविषाणवदिति न व्यक्तिवादे पदार्थः संगच्छते तत्र तस्यासत्यत्वप्रसंगात्। नाऽपि सामान्यं केवलं विशेषनिरपेक्षं पदं प्रकाशयति तस्याऽप्यसंभवात् कूर्मरोमादिवदिति। न जातिर्वा व्यक्तिर्वाऽस्य पदार्थः समवतिष्ठते तस्यापि तन्मात्रे प्रवर्त्तमानस्यासत्यतापत्तेः। न च परस्परानिरपेक्षमुभयं पदार्थस्तस्याऽप्यप्रतीयमानत्वात् वंध्यापुत्रादिवत्। तत्र प्रवर्त्तमानस्य पदस्यायथार्थत्वप्रसक्तेः। न चाप्यनुभयं पदमावेदयति तस्याप्यन्यथावृत्तिमात्रस्यावस्तुभूतस्य प्रतिपादने पदास्प्रवृत्तिविरोधात्।

जात्यन्तरं तु सामान्यविशेषात्मकं वस्तु प्रधानगुणभावेन पदं प्रकाशयत् यथार्थतां नातिक्रामति प्रतिपत्तुः प्रवृत्तिप्राप्तिघटनात् प्रत्यक्षादिप्रमाणादिवेति देवागमपद्यवार्तिकालंकारे निरूपितप्रायम्। तद्यथा—

> सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः
> पदं विशेषांतरपक्षपाति।
> अन्तर्विशेषान्तरवृत्तितोऽन्य-
> त्समानभावं नयते विशेषम्॥४०॥

इति वृत्तं खंडशो व्याख्यातम्।

अथवा पदं किंचिद्विशेषं संकेतकालवर्तिनं समानभावं नयते कुतो यस्माद्विशेषान्तरपक्षपाति, संकेतकालवर्तिनो विशेषाद्व्यवहारकालवर्तिविशेषोऽन्यो विशेषांतरं तत्पक्षपातित्वादित्यर्थः। अन्यत्पदं समानभावमपि विशेषं नयते कस्मादन्तर्विशेषान्तरवृत्तितः, विशेषान्तराणामन्तः अन्तर्विशेषान्तरं। अंतःशब्दस्य पूर्वनिपातो "अन्तरादेष्टृणा्" इति ज्ञापकादन्तर्मुहूर्त्तवत्। अन्तर्विशेषान्तरे वृत्तिरन्तर्विशेषान्तरवृत्तिस्ततो विशेषान्तराणां संकेतसमयवर्तिसामान्यविशेषणाविशेषेभ्योऽन्येषां विशेषाणामन्तर्वृत्तित्वाद्विशेषान्तराद्बहिर्भावादित्यर्थः। कुतः? पुनः किंचित्पदं विशेषे द्रव्यादौ प्रवर्त्तमानं तं विशेषं सामान्यरूपतां नयते परन्तु सामान्ये प्रवर्त्तमानं द्रव्यत्वादौ सामान्यमपि विशेषरूपतां प्रापयतीति चेत्, यतः सामान्य-

निष्ठा विविधा विशेषा इत्युपपत्तिरभिहिता यस्मात् सामान्ये निष्ठा विशेषाणां तस्मात्पदं विशेषं सामान्यरूपतां नयते यस्माच्च सामान्यमपि पदं विशेषं नयत इत्यर्थः ।

किं पुनस्तत्पदं बहिर्भूतं वर्णात्मकमन्तर्भूतं वा चिदात्मकमिति शंकायां पदस्य विशेषणमन्तरिति । तेनैवं व्याख्यायते—यदन्तःपदं ज्ञानात्मकं तदन्यदेव वर्णात्मकपदात् विशेषांतरवृत्तितो विशेषान्तरपक्षपाति सद्विशेषं समानभावं नयते न पुनर्वर्णसमूहलक्षणं वर्णानामुत्पन्नापवर्गित्वात्समूहानुपपत्तेः पदस्यैवासंभवात्। वर्णानित्यतायामपि तदभिव्यक्तेरनित्यत्वादभिव्यक्तवर्णसमूहात्मकं पदं न संभावयितुं शक्यं, गौरिति पदे गकाराभिव्यक्तिकाले तदवयवभूतयोरौकारविसर्गयोरभिव्यक्त्यभावात्तदभिव्यक्तिकाले च गकाराभिव्यक्तेर्विनाशात् । न चाभिव्यक्तानभिव्यक्तवर्णानां समूहः संभवति। यदि पुनः क्रमेणोत्पन्नानामभिव्यक्तानां वा बुद्धौ विपरिवर्तमानानां क्रमविशेषात्मकः समूहः पदमित्यभिधीयते तदाऽप्येकवर्णबुद्धिकाले वर्णान्तरबुद्धेरनुत्पत्तेरुत्तरवर्णबुद्धेरुत्पत्तिकाले च पूर्ववर्णबुद्धेः प्रध्वंसान्नैकबुद्धौ वर्णानां नानात्मनां विपरिवर्त्तनं संभवति। न चैका बुद्धिर्नानाक्रमवर्त्त्येकवर्णकालव्यापिनी संभवति तस्याः कालान्तरस्थायित्वासंभवात् । बुद्धिजनितसंस्कारः कालान्तरस्थायीति चेत् न, नानावर्णविज्ञानजनितसंस्काराणां क्रमभुवां वर्णस्मरणमजनयतामसत्कल्पत्वात्, जनयतां तु न युगपत् स्मरणं संभवति, क्रमतो वर्णस्मरणसंभवेऽपि नैकवर्णस्मरणका-

त्ते वर्णान्तरस्मरणमस्ति विरोधात् कुतः स्मर्यमाणानामपि वर्णानां समूहः, तत एव पदस्फोटः पदार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं, वर्णानां प्रत्येकमर्थप्रतिपत्तिनिमित्तत्वे वर्णान्तरवैयर्थ्यप्रसंगात्स-मूहस्यासंभवात् तद्बुद्धिस्मरणसमूहवदित्यपरे। तेषामपि पद-स्फोटो नित्यो निरंशः सर्वगतोऽमूर्तः किमनभिव्यक्त एवार्थप्रति-पत्तिहेतुरभिव्यक्तो वा? प्रथमपक्षे वर्णोच्चारणानर्थक्यं सर्व-दा सर्वत्र सर्वथाऽप्रतिहतार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत! कदाचित् क्व-चित् कथंचिदसंभवाभावात्। द्वितीयपक्षे तु पदस्फोटोऽभिव्य-ज्यमानः प्रत्येकं वर्णेनाभिव्यज्यते वर्णसमूहेन वा? यदि प्रत्येकं वर्णेनाभिव्यज्यते तदैकवर्णेन सर्वात्मना तस्याभिव्यक्तत्वात् सर्वत्र सर्वथा वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यं कथं विनिवार्येत?। पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थत्वाद्वर्णान्तरोच्चारणस्य न वै-यर्थ्यमिति चेत् न, वर्णान्तरोच्चारणादपि पदार्थान्तरप्रति-पत्तेरेवानुषंगात्, यथा हि गौरितिपदस्यार्थो गकारोच्चारणा-त्प्रतीयेत तथौकारोच्चारणादौशनस इतिपदस्यार्थः प्रतिपद्येता-द्येन गकारेण गौरिति पदस्येव प्रथममौकारेणौशनस इति पदस्य स्फोटस्याभिव्यक्तेः। तथा च गौरिति पदादेव गौरौ-शनस इति वाक्यार्थप्रतिपत्तिः प्रसज्येत, संशयो वा स्यात्! किमेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गकाराद्यनेकवर्णोच्चारणं पदां-तरस्फोटव्यवच्छेदेन, किंवाऽनेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गका-राद्यनेकवर्णोच्चारणमिति ततो नैकेनैव वर्णेन पदस्फोटस्य स-र्वात्मनाऽभिव्यक्तिर्घटते। नाऽप्येकदेशेन सांशत्वप्रसंगात्,

सांशस्य च स्वांशेभ्योऽनर्थान्तरत्वे नानात्वप्रसंगो नानावयवेभ्योनर्थान्तरस्यैकत्वविरोधात्। एकस्मादनर्थान्तरभूतानां नानावयवानां नानात्वविरोधवत्। स्वांशेभ्योऽर्थान्तरत्वे तस्यानभिव्यक्तिप्रसक्तिस्ततो भिन्नानामेवांशानां नानावर्णैरभिव्यक्तित्वात्। यदि पुनर्नानावर्णाभिव्यक्तैः पदस्फोटस्यांशैरभिव्यक्तिरभिधीयते तदैकवर्णाभिव्यक्तपदस्फोटावयवेन सर्वात्मना पदस्फोटस्याभिव्यक्तौ वर्णान्तराभिव्यक्ततदवयववैयर्थ्यमासज्येत, तस्यैकदेशेनाऽभिव्यक्तौ नानावयवत्वमवयवान्तरैरिति, तेभ्योऽपि तस्यानर्थान्तरत्वार्थान्तरत्वविकल्पयोस्तदेव दूषणमनवस्था च दुर्निवारा स्यात्। यदि वर्णसमूहेन पदस्फोटोऽभिव्यज्यत इति मतं, तदापि क्षणप्रध्वंसिनां वर्णानां कथं समूहः सिद्ध्येत् योऽभिव्यंजकः स्यात्, नित्यानामपि वर्णानामनभिव्यक्तानां समूहो न व्यंजकः सर्वदाभिव्यक्तिप्रसंगात्। अभिव्यक्तानां तु समूहो न संभवत्येव तदेकवर्णाभिव्यक्तिसमये वर्णान्तराभिव्यक्त्ययोगात्, व्यक्ताव्यक्तात्मकानां तु वर्णानां समूहो न पदस्फोटस्याभिव्यंजकः स्यात् तदुभयदोषानुषंगात्।

स्यान्मतं, पूर्वपूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानंतरं पदस्फोटस्याभिव्यक्तेः पदार्थप्रतिपत्तिरिति। तदप्यसत्। तथैव पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धेः स्फोटपरिकल्पनानर्थक्यात्। चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वांतरस्य स्फोटस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यानुपपत्तेः। स एव चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फो-

टोऽस्तु "स्फोटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्निति स्फोट"श्चिदात्मा, पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटो, वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टो वाक्यस्फोट इति प्रकरणाह्निकाध्यायशास्त्रमहाशास्त्रादिरंगप्रविष्टांगवाह्यविकल्पः स्फोटः प्रसिद्धो भवति, भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्तथाभिधानाविरोधात् । न हि निरतिशयनित्यैकान्तस्वभावोऽयमात्मा नानार्थग्रहणपरिणामविरोधान्निरन्वयविनश्वरक्षणिकचित्तवत् क्रमयौगपद्यविरोधात् । नापि सातिशयनित्यैकान्तस्वभावोत्यन्तार्थान्तरभूतैरतिशयैः संबंधानुपपत्तेः। ज्ञानादिपरिणामानामात्मनि समवायसंबंध इति चेत् न, तस्य कथंचित्तादात्म्यव्यतिरेकेण पदार्थान्तरस्यासंभवात् । परिणामिनस्तु प्रमाणवलादेव स्थितस्यात्मनो नानार्थग्रहणपरिणामोपपत्तेरन्तःस्वरूपं पदं चिदात्मकमिति व्यवतिष्ठते । तस्मिन् सति वक्तुः क्रमविशेषविशिष्टवर्णसमूहलक्षणं वाह्यं पदं श्रोत्रज्ञानविषयभावमापद्यमानमनुमन्यामहे तस्यैव श्रोतृजनपदार्थज्ञानजनननिबंधनत्वनिर्णयात् । ततस्तदेव विशेषं समानभावं नयते विशेषांतरपक्षपातित्वात् सामान्यं च विशेषं नयते विशेषान्तरवृत्तेः स्वयं सामान्यनिष्ठविविधविशेषविषयीकरणसमर्थत्वात् ।

एतेनांतरंगं वाक्यं प्रकरणमान्हिकमध्यायः शास्त्रादि भावश्रुतविशेषं विविधं समानभावं नयते, सामान्यं वा नैकप्रकारं विशेषं नयत इति प्रतिपत्तव्यम् ।

अथाऽस्ति जीव इत्यत्राऽस्त्येव जीव इत्यवधार्यते वा नवेति प्रथमकल्पनायां दूषणमावेदयंति सूरयः—

यदेवकारोपहितं पदं त-
दस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेषसर्वं,
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

टीका—एवकारेणाऽवधारणार्थेन निपातेनोपहितं विशिष्टं यत्पदं तत्स्वार्थमस्वार्थाद् व्यवच्छिनत्ति यथा तथा स्वार्थपर्यायान् व्यवच्छिनत्त्येव । तद्यथा—जीव एवेति पदस्य जीवत्वं स्वार्थस्तद्विरोधी चास्वार्थः स्यादजीवत्वं तच्च यथैवजीवत्वं व्यवच्छिनत्ति तथा जीवपर्यायानपि सुखज्ञानादीन् व्यवच्छिनत्त्येवान्यथा सुखादिपदोपन्यासवैयर्थ्यात् जीवपदेनैव तेषां विषयीकृतत्वात्, तथा चाहं सुखीत्यादिप्रयोगो न भवेत् । सामान्यमपि द्रव्यत्वचेतनत्वादि सर्वं व्यवच्छिद्यात् अन्यथा द्रव्यमहं चेतनोऽहमिति प्रयोगो विरुध्यते जीवपदेनैव द्रव्यत्वादेरभिधानात् । तथा विशेषानर्थपर्यायाननंतानभिधानाविषयान् व्यवच्छिद्यादन्यथा तद्विषयीकरणप्रसंगात् । तथा च पर्यायाणां क्रमभुवां धर्माणां सामान्यानां च सहभुवां विशेषाणां चानभिधेयानां व्यवच्छेदे पदार्थस्य जीवपदाभिधेयस्य जीवत्वस्याऽपि हानिः स्यात्तद्विरोध्यजीवत्ववत् (तेषामभावेप्यजीवत्ववत्) तेषामभावे तदसंभवात् । प्रतियोगिनमेवाजीवपदं

न्यवच्छिन्नत्ति न पुनरप्रतियोगिनस्तत्पर्यायसामान्यविशेषान् तेषामप्रस्तुतत्वादिति चेत्, नैवं स्याद्वादानुप्रवेशप्रसंगात् ।

तर्हि द्वितीयकल्पनास्तु सर्वं पदमनेवकारमिति वदंतं प्रत्याहुः—

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्त्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतराप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥ ४२ ॥

टीका—अस्ति जीव इत्यत्रास्तीति यत्पदमनेवकारं तद-नुक्ततुल्यं नास्तित्वव्यवच्छेदाभावान्नास्तित्वस्याप्रतिपादनात् । तथा जीव इति पदमनेवकारमजीवत्वस्यापि तेनाकथनात् । नियमद्वयेऽपि व्यावृत्त्यभावात् । अस्त्येवेति पूर्वावधारणं, जीव एवे-त्युत्तरावधारणं नियमद्वयं । तस्मिन्निष्टेऽप्येवकाराभावे व्यावृ-त्त्यभावात् प्रतिपक्षनिवृत्त्यसंभवादित्यर्थः । तथा चास्तिनास्ति-पदयोर्जीवाजीवपदयोश्च पर्यायभावः स्याद्घटकुटशब्दवत् अस्ती-तिपदेन नास्तित्वस्यापि प्रतिपादनान्नास्तीतिपदेन चास्तित्व-स्यापि प्रतिपादनात् । तथा जीवपदेनाजीवार्थस्यापि वचनात्, अ-जीवपदेनापि जीवार्थस्यापीति, पर्यायभावे च परस्परप्रतियोगिप-दयोरपि सकलजनस्यान्यतराप्रयोगः स्यात् घटकुटपदवदेव, तद-न्यतराप्रयोगे च सर्वमभिधेयं वस्तुजातमन्येन प्रतियोगिना च्युतं त्यक्तं स्यादस्तित्वं नास्तित्वरहितं भवेदिति सत्ताद्वैतमापद्येत । नास्तित्वाभावे च सत्ताद्वैतमात्महीनं प्रसज्येत, पररूपापोहना-

भावे स्वरूपोपादानानुपपत्तेः कुटस्याकुटापोहनाभावे स्वात्मोपादानासंभवात्। नास्तित्वस्य चास्तित्वच्युतौ शून्यवादानुषंगः। न चाभावो भावमन्तरेण संभवतीति शून्यमप्यात्महीनमेव स्यात्, शून्यस्य स्वरूपेणाऽप्यभावे पररूपापोहनासंभवात् पटस्य स्वरूपोपादानाभावे शश्वदपटरूपापोहनासंभवात्, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनो वस्तुत्वस्य। नन्वेवं वस्तुनोऽप्यवस्तुपोहनेन भवितव्यं वस्तुत्वोपादानवत्तथा चावस्तु किंचिदभ्युपगन्तव्यमिति चेत्, न वस्तुन एव परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयापेक्षायामवस्तुत्वसिद्धेः सकलस्वरूपशून्यस्यावस्तुनोऽप्यसंभवात्।

तथा चोक्तम्—

वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययादिति

ततो न किंचिद्वस्तुप्रतिपक्षभूतावस्तुवर्जितमात्मानं लभते यतः सर्वमन्यच्युतमात्महीनं भवेत्। सुदूरमप्यनुसृत्य कस्यचिदिष्टस्य तत्त्वस्यात्महीनत्वमनभ्युपगच्छतान्यहीनत्वं नानुमन्तव्यं। तदप्यननुमन्यमानेन नान्यतराप्रयोगोऽनुमन्तव्यः, तं चाननुगच्छता न पर्यायभावः प्रत्येयस्तमप्रतीयता नियमद्वयेऽपि व्यावृत्यभावो नाभ्यनुज्ञातव्यः। तमप्यनभ्यनुजानता नानेवकारं पदमंगीकर्त्तव्यमिति सर्वं पदमेवकारोपहितमेव वक्तव्यं तत्र चोक्तो दोषः। नन्वेवकारप्रयोगाभावेऽपि प्रतिपत्तुरर्थप्रकरणलिंगशब्दांतरसन्निधिसामर्थ्यात्सामान्यवाचिनामपि विशेषे स्थितिर्भविष्यतीति तथैव व्यवहारस्य प्रवृत्तेः।

तदुक्तम्—

अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।

सामान्यवाचिशब्दानां विशेषे स्थितिहेतवः ॥ इति ॥

तदप्यनालोचिताभिधानं । अर्थप्रकरणादिभिरपि यद्येवकाशर्थे विशेषे स्थितिः क्रियते तदैवकारोपहितपदप्रयोगपक्षभाविदूषणगणः परिहर्तुमशक्यः । अथ ततोऽन्यत्र विशेषे स्थितिहेतवोऽर्थप्रकरणादयस्तदाऽनेवकारपदप्रयोग एव समर्थितः स्यात् । तत्र चोक्तो दोषः ।

स्यान्मतं—क्वचिदेवकारोपहितं पदं क्वचिदनेवकारं यथा पूर्वावधारणे पूर्वं पदमेवकारोपहितमुत्तरमनेवकारं, उत्तरावधारणे पुनरुत्तरं पदमेवकारोपलक्षितं पूर्वमनेवकारमिति। तदप्यसत् पक्षद्वयाक्षिप्तदोषानुषंगात् । यदि पुनरस्तीति पदेनाभिधेयमस्तित्वमनेवकारेणापि नान्येन तत्प्रतिपक्षभूतेन नास्तित्वेन च्युतं भवति, तस्य तदभेदित्वात्, सत्त्वाद्वैतवादिनोऽस्तित्वव्यतिरेकेण नास्तित्वासंभवादन्यत्रानाद्यविद्योपप्लवात् । तत्सर्वथा शून्यवादिनो नास्तित्वव्यतिरेकेणास्तित्वे च वर्त्तनेनात्महीनं प्रसंजनयितुं शक्यमिति मतं तदापि दूषणमाहुः स्वामिनः—

“ विरोधि चाभेद्यविशेषभावात्” इति ।

नास्तित्वमस्तित्वात् सर्वथाप्यभेदि येनाभिधीयते तस्य तद्विरोधस्य भेदवद्भवेत् सत्ताद्वैतेऽभिधानाभिधेययोर्विरोधात् । कस्माद् ? अविशेषभावादविशेषत्वात् सकलविशेषाणामभावा-

दित्यर्थः । अनाद्यविद्यावशाद्विशेषसद्भावाददोष इति चेत्, न, विद्याविद्याविशेषयोरप्ययोगात्, अन्यथा द्वैतप्रसंगात् । अथवा नास्तित्वमस्तित्वादभेदीति विरोधि च स्यान्न केवलमात्महीनमिति चशब्दार्थः । कस्मात्? अविशेषभावाद्विशेषस्य भेदस्यास्तित्वनास्तित्वयोरभावात् । यो हि ब्रूयादिदमस्मादभेदीति तेन तयोः कथंचिद्भेदोऽभ्युपगतः स्यादन्यथा तद्वचनायोगात्, कथंचिदपि भेदिनोरभावे तत्प्रतिषेधविरोधात् । अथ शब्दाद्विकल्पभेदाद्भेदिनोः स्वरूपभेदः प्रतिषिध्यते तदापि शब्दयोर्विकल्पयोश्च भेदं स्वयमनिच्छन्नेव संज्ञिनो भेदं कथमपाकुर्वीत? पराभ्युपगमादेव शब्दविकल्पभेदस्येष्टेर्न दोष इति चेत्, न, स्वपरभेदानभ्युपगमे पराभ्युपगमासिद्धेः । विचारात् पूर्वं स्वपरभेदः प्रसिद्ध एवेति चेत्, न, तदाऽपि पूर्वापरकालभेदस्यासिद्धेः । तत्सर्वथा भेदापह्नवे स्यादेवाभेदीति वचो विरोधि विशेषाभावादिति स्थितं ।

नन्वेमस्तित्वविरोधान्नास्तित्वं वस्तुनि कथमभिधीयते स्याद्वादिभिरेवकारोपहितेनास्तीतिपदेन तस्य व्यवच्छेदादनेवकारेण तस्य वक्तुमशक्यत्वादनुक्तसमत्वात् । ततश्चावाच्यतैवापतेत् प्रकारांतराभावादित्याशंकायामिदमुच्यते—

तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः ।
विपाद्यसन्धिश्च तथांगभावा-
दवाच्यता श्रायसलोपहेतुः ॥ ४४ ॥

टीका—तस्य विरोधिनो धर्मस्य द्योतनः स्यादिति निपातः स्याद्वादिभिः संप्रयुज्यते। यद्येवं विध्यर्थिनः प्रतिषेधेऽपि प्रवृत्तिर्भवेत् द्वयोरपि प्रकाशनप्रतिपादनादिति न मन्तव्यं गुण इति वचनात्। विधौ प्रयुज्यमानं पदमस्तीति प्रतिषेधं गुणभावेन प्रकाशयति स्यादिति निपातेन तथैव द्योतनात्। तथा विपाद्यस्य विपक्षभूतस्य धर्मस्य संधिश्च स्यादंगभावादंगस्यावयवस्य भावादवयवत्वादित्यर्थः। सर्वथाऽप्यवाच्यता तु न युक्ता तस्याः श्रायसलोपहेतुत्वान्निश्रेयसतत्त्वस्याप्यवाच्यत्वात्तदुपायतत्त्ववत्। न चोपेयस्योपायस्य वचनाभावे तदुपदेशः संभवति, न चोपदेशाभावे श्रायसोपायानुष्ठानं संभवति, नाप्युपायानुष्ठानानुपपत्तौ श्रायसमित्यवाच्यता श्रायसलोपहेतुः स्यात्ततः स्यात्कारलाञ्छनं पदमेवकारोपहितमर्थवत् प्रतिपत्तव्यमिति तात्पर्यार्थः।

नन्वेवं सर्वत्र स्यादिति निपातस्य प्रयोगप्रसंगात्प्रतिपदं तदप्रयोगः शास्त्रे लोके च कुतः प्रतीयत इति शंकां प्रतिघ्नंति सूरयः—

तथा प्रतिज्ञाशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः।
इति त्वदीया जिननाग ! दृष्टिः
पराप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥ ४५ ॥

टीका—तथा स्याज्जीव एवेतिप्रकारेण या प्रतिज्ञा

तस्यामाशयोऽभिप्रायस्तथा प्रतिज्ञाशयः प्रतिपादयितुरभिप्रायस्तस्मात् प्रतिपदं स्यादिति निपातस्याप्रयोगः शास्त्रे लोके च प्रतीयते एवकाराप्रयोगवत्। शास्त्रे तावत् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यादौ न क्वचित्स्यात्कार एवकारो वा प्रयुज्यते, शास्त्रकारैरप्रयुक्तोऽपि विज्ञायते तेषां तथा प्रतिज्ञाशयसद्भावात् सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधस्य सर्वथैकान्तव्यवच्छेदस्य युक्तिः स्याद्वादिनामन्यथा तदयोगात्, न हि स्यात्काराप्रयोगमन्तरेणानेकान्तात्मकत्वसिद्धिरेवकारप्रयोगमन्तरेण सम्यगेकान्तावधारणसिद्धिवत्। "सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयाद्" इत्यादौ स्यात्काराप्रयोग इति न मन्तव्यं, स्वरूपादिचतुष्टयादिति वचनात्स्यात्कारार्थप्रतिपत्तेः, "कथंचित्ते सदेवेष्टं' इत्यादौ कथंचिदिति वचनात्तत्प्रयोगवत्, तथा लोके घटमानयेत्यादिषु तदप्रयोगः सिद्ध एव। इत्येवं जिननाग! जिनकुंजर! त्वदीया दृष्टिः परैः सर्वथैकान्तवादिभिरप्रधृष्या प्रमाणनयसिद्धार्थत्वात्। परेषां भावैकान्तवादिनां प्रधर्षिणी च त्वदीया दृष्टिरिति संबंधः। तेषां सर्वथाऽविचार्यमाणानामप्रयोगः—यथा चाभावैकान्तादिपक्षा न्यक्षेण प्रतिक्षिप्ता देवागमाप्तमीमांसायां तथेह प्रतिपत्तव्या इत्यलमिह विस्तरेण।

कथं पुनर्विपाद्यसंधिश्च पदस्याभिधेयः स्यादिति स्वयं सूरयः प्रकाशयन्ति—

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च

त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधामी
स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥ ४६ ॥

टीका—स्यादस्त्येवेति विधिः स्यान्नास्त्येवेति निषेधः स्यादनभिलाप्यमेव सर्वमर्थजातमित्यनभिलाप्यता, तेऽमी त्रयो विकल्पाः एकशस्त्रिरिति वचनात् पदस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः । एषां विपाद्येन विपक्षेण संधिः संयोजना स्यादस्ति नास्त्येव स्यादस्त्यवक्तव्यमेव स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेवेति त्रिर्द्विशो भवति । द्वाभ्यां द्विश इति द्विसंयोगजा विकल्पास्त्रिरिति त्रिप्रकारा भवन्ति । स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेवेत्येक एव विकल्पो भवति । तदेवं विपाद्यसंधिप्रकारेण त्रयोऽमी मूलविकल्पाः सप्तधा भवंति । किं क्वचिदेवार्थे किं वा सर्वत्रेति शंकायामिदमुच्यते—सकलेऽर्थभेदे निरवशेषे जीवादितत्त्वार्थपर्याये, न पुनः क्वचिदेवार्थपर्यायभेदे, प्रतिपर्यायं सप्तभंगीतिवचनात् । विकल्पाः सप्तधा भवंति तवेति वचनात् न च परेषामप्यमी । नन्वस्तित्वं प्रति विप्रतिपन्नमनसां तत्प्रत्यायनाय यथा स्यादस्त्येवेति पदं प्रयोगमर्हति तथा स्यान्नास्त्येवेत्यादिपदान्यपि प्रयोगमर्हेयुः सप्तधावचनमार्गस्य व्यवस्थितेरिति पराकूतं निराचिकीर्षवः स्याच्छब्दनेया इति प्रतिपादयति । यथा विधिविकल्पस्य प्रयोगस्तद्विवादविनिवृत्तये स्याद्वादिभिर्विधीयते तदा निषेधादिविकल्पाः शेषाः षडपि स्याच्छब्देन नेयाः स्युः । न

पुनः प्रयोगमर्हति तदर्थं विवादाभावात् तद्विवादे तु क्रमशस्तत्प्र-योगेऽपि न कश्चिद्दोषः प्रतिभाति प्रतिपाद्यस्यैकस्यापि सप्तधावि-प्रतिपत्तिसद्भावात् । तावत्कृत्वः संशयोपजननात्तावज्जिज्ञासो-पपत्तेस्तावदेव च प्रश्नवचनप्रवृत्तेः "प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगीति" वार्त्तिककारवचनात् । नाना-प्रतिपाद्यजनानिवैकप्रतिपाद्यजनमपि प्रतिपादयितुमनसां सप्त-विकल्पवचनं न विरुध्यत एव । ननु च स्यादिति निपातोऽने-कांतस्य द्योतको वाचको वा, गुणभावेन भवेत्प्रधानभावेन वा ? तत्र यदि गुणकल्पनया द्योतकोऽभिधीयते तदा तद्वाचकपदा-न्तरेणाऽपि गुणकल्पनयैव वाच्यत्वप्रसंगः सर्वत्र पदाभिधेयस्यै-व निपातेन द्योतयितुं शक्यत्वात्, तदनुक्तस्यार्थस्य तेन द्योतने तस्य वाचकत्वप्रसक्तेस्तत्प्रयोगसामर्थ्यात्तदर्थप्रतिपत्तेः ।

स्यान्मतमेतत्—अस्तीतिपदेन निपातेन तावदस्तित्वं प्र-धानकल्पनयोच्यते स्यादितिपदेन निपातेन नास्तित्वादयो धर्मा द्योत्यंत इति प्रधानगुणकल्पनयाऽनेकान्तप्रतिपत्तिरेव-कारप्रयोगादन्यव्यवच्छेदसिद्धेरिति । तदप्यसम्यक्; अस्ती-तिपदेनानुक्तानां नास्तित्वादिधर्माणां स्याच्छब्देन द्योतने सर्वार्थद्योतनप्रसंगात् । सर्वार्थानामेवकारेण व्यवच्छेदान्न तद्-द्योतनप्रसंग इति वचनं न युक्तिमत् नास्तित्वादीनामपि तेन व्यवच्छेदादनुद्योतनप्रसंगात्ततो न द्योतकः स्याच्छब्दोऽने-कांतस्य युज्यते नाऽपि वाचकः स्यादिति निपातप्रयोगादेव तत्प्रतिपत्तेरस्तीत्यादिपदप्रयोगानर्थक्यात् ।

सर्वार्थप्रतिपादने तेनैव पर्याप्तत्वात्पदान्तरस्य प्रयोगो वा पुनरुक्तत्वमनिवार्यमिति केचित्, तान्प्रति सूरयः प्राहुः—

स्यादित्यपि स्याद् गुणमुख्यकल्पै-
कान्तो यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकांतमशेषरूपं
द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ॥ ४७ ॥

टीका—अस्यायमर्थः, स्यादित्यपि निपातो गुणमुख्यकल्पैकान्तः स्यात्, गुणश्च मुख्यश्च गुणमुख्यौ स्वभावौ ताभ्यां कल्प्यन्त इति गुणमुख्यकल्पाः, गुणमुख्यकल्पा एकान्ता यस्य सोऽयं गुणमुख्यकल्पैकान्तः स्याद्भवेन्नयादेशादित्यभिप्रायः । शुद्धद्रव्यार्थिकप्रधानभावादस्तित्वैकान्तो मुख्यः, शेषा नास्तित्वाद्यैकान्ता गुणाः, प्रधानभावेनानर्पणादनिराकरणाच्च नास्तित्वादिनिरपेक्षस्यास्तित्वस्यासंभवात् खरविषाणवत् । स्याच्छब्दस्तु तद्द्योतनः प्रधानगुणभावेनैव भवेत्तथैवास्तीति पदेनाभिधानात् पदान्तरेण यथाभिधानं निपातपदेन द्योतयितुं शक्यत्वात् । व्यवहारनयादेशात्तु नास्तित्वैकान्ता मुख्याः स्युरस्तित्वैकांतस्तु गुणः प्राधान्येनाविवक्षितत्वात्तदप्रतिक्षेपाच्च तत्रास्तित्वनिराकरणे तु नास्तित्वादिधर्माणामनुपपत्तेः कूर्मरोमादिवत् । नास्तित्वादिभिरपेक्ष्यमाणं तु वस्तुनोऽस्तित्वं स्याच्छब्देन द्योत्यत इति प्रधानगुणभावेनैव स्यादिति निपातः कल्पयत्येकांताच्छुद्धनयादेशा-

नान्यथा। कुत इति चेत्, यथोपाधि यथा विशेषणं विशेषस्य भेदस्य भावात् सद्भावात् "धर्मे धर्मेऽन्य एवाऽर्थो धर्मिणोऽनंतधर्मिणः" इत्यन्यत्रापि वचनात्। नयादेशो हि वस्तुनो धर्मभेदाद्विशेषो न प्रमाणदेश इति। जीवादि तत्त्वमपि तर्हि प्रधानगुणभूतैकान्तमायातमिति न शंकनीयं। "तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं" इति वचनात्। तत्त्वं जीवादि प्रमाणार्पितं सकलादेशात् "सकलादेशः प्रमाणाधीनः" इति वचनात् तदनेकान्तमेव स्याद् अनेकान्तोऽप्यनेकांतो न पुनरेकान्तस्तस्य नयार्पणयोक्तत्वात्। कुतस्तदनेकांतमित्युच्यते— यतोऽशेषरूपं अशेषं सकलं रूपं यस्य तदशेषरूपं विकलरूपस्य तत्त्वैकदेशत्वात्।

कथमिदानीं स्याज्जीव एव स्यादजीव एवेत्यादिना प्रमाणवाक्येनाभिधीयत इति शंकायामिदमुच्यते—

"द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वादिति"

तत्त्वं द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यवस्थितं द्रव्यरूपं भवार्थवत्त्वात् पर्यायरूपं व्यवहारवत्त्वात्। भवार्थो हि सद्द्रव्यं विधिर्व्यवहारोऽसद्द्रव्यं गुणः पर्यायः प्रतिषेधः, तत्तत्त्वमेव वस्तुन इति द्विप्रकारं तत्त्वं प्रकारान्तराभावात्। तत्र यत्र यदा सद्द्रव्यं जीवो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशं कालः पुद्गलो मनुष्यादिरिति वा विधिलक्षणभवार्थप्ररूपणायां सदिति शब्दः प्रयुज्यते तदा कालात्मरूपसंसर्गगुणिदेशार्थसंबंधोपकारशब्दैरभेदेनाभेदात्मकस्य वस्तुनोऽभिधानात् सकलादेशस्य

प्रमाणाधीनस्य प्रयोगादशेषरूपं तत्त्वमभिधीयते। सदिति शब्दो हि सकलसद्विशेषात्मकं सदितरात्मकासद्विशेषात्मकं च तत्त्वं प्रतिपादयति कालादिभिरभेदात्। तथा द्रव्यमिति शब्दो निःशेषद्रव्यविशेषात्मकं द्रव्यतत्त्वं सकलपर्यायविशेषात्मकमद्रव्यगुणाद्यात्मकं च प्रकाशयति। तथैव जीव इति शब्दो जीवतत्त्वं सकलजीवविशेषात्मकं जीवपर्यायरूपं जीवाजीवविशेषात्मकं च कथयति। तथैव धर्म इत्यधर्म इत्याकाश इति काल इति च शब्दो धर्ममधर्ममाकाशं कालं च सकलस्वविशेषात्मकं निवेदयति। पुद्गल इति शब्दोऽखिलपुद्गलविशेषात्मकं पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रतिपत्तव्यं विधिरूपस्य भवार्थस्य प्राधान्यात्। यदा पुनरसदितिशब्दः प्रयुज्यते तदाऽप्यसत्तत्त्वं पररूपादिचतुष्टयापेक्षं कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण सकलासद्विशेषात्मकं तत्त्वं ख्यापयति, व्यवहारस्य भेदप्राधान्यात्। तथैवाद्रव्यमजीव इत्यादि प्रतिषेधशब्दः सकलासद्विशेषात्मकमद्रव्यत्वमजीवादितत्त्वं च प्रत्याययति। स्यादिति निपातेन तथा तस्योद्योतनादेवकारेणान्यथाभावनिराकरणात्। वस्तुत्वमिति शब्दस्तु स्यात्कारलांछनः सैवकारः सकलवस्तुविशेषसदसदादिरूपं तत्त्वं कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण प्रख्यापयति तस्य भवार्थव्यवहारवत्त्वाद्विधिनिषेधप्राधान्येन युगपदभिधानात्, यत्काले वस्तुनो वस्तुत्वं तत्काल एव सकलवस्तुविशेषास्तस्य तद्व्यापकत्वादिति कालेनाभेदस्तेभ्यो द्रव्यार्थिकप्राधान्यात्। यथा च वस्तुनो वस्तुत्वमात्मरूपं तथा सर्वे वस्तुविशेषाः

इत्यात्मरूपेणाभेदः। यथा च वस्तुत्वेन वस्तुनः संसर्गस्तथा वस्तुविशेषैरपि, सविशेषस्यैव तस्य सम्यक् सृष्टौ व्यापारात् ततः संसर्गेणाप्यभेदः। यस्तु वस्तुत्वस्य गुणस्य वस्तुगुणिदेशः स एव वस्तुविशेषाणामिति गुणिदेशेनाऽपि तदभेदः। य एव चार्थो वस्तुत्वस्याधिकरणलक्षणो वस्त्वात्मा स एव सकलवस्तुधर्माणामित्यर्थतोऽपि तदभेदः। यश्च वस्तुनि वस्तुत्वसंबंधः समवायोऽविष्वग्भावलक्षणः स एव सकलधर्माणामिति संबंधेन तदभेदः। य एव चोपकारो वस्तुनो वस्तुत्वेन क्रियतेऽर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणः स एव सकलधर्मैरित्युपकारेणैव तदभेदः। यथा च वस्तुशब्दो वस्तुत्वं प्रतिपादयति तथा सकलवस्तुधर्मानपि तैर्विना तस्य वस्तुत्वानुपपत्तेरिति शब्देनाऽपि तदभेदः। पर्यायार्थिकप्राधान्येन तु परमार्थतः कालादिभिर्भेद एव धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात्। वस्तुशब्देन सकलधर्मविशिष्टस्य वस्तुनोऽभिधानात् सकलादेशो न विरुध्यते। ततः स्याद्वस्त्वेवेत्यादिशब्दः तत्त्वमशेषरूपं प्रतिपादयतीति नानात्वरूपस्यापि वस्तुनो वाचकसंभवः सकलादेशवाक्येन तस्य तथा वक्तुं शक्यत्वात्। ननु च द्रव्यमात्रं तत्त्वं तस्य द्रव्यपदेनाभिधानात् पदान्तराणामपि तत्रैव व्यापारात् तद्व्यतिरेकेण पदार्थासंभवादित्येके। पर्यायमात्रमेव तत्त्वं द्रव्यस्य सकलपर्यायव्यापिनो विचार्यमाणस्यायोगात् द्रव्यादिपदेनापि पर्यायमात्रस्यैव कथनात्तत्र प्रवृत्तिप्राप्तिदर्शनाच्चेत्यन्ये। द्रव्यं पर्यायश्च पृथगेव तत्त्वं तयोस्तादात्म्यविरोधात् द्रव्यपदेन द्रव्य-

स्यैवाभिधानात्पर्यायपदेन पर्यायस्यैव निवेदनादन्यथासंकरव्य-तिकरप्रसंगादित्यपरे। द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं तत्त्वं द्रव्यपदेन प-र्यायपदेन वा तस्यैवाभिधानात् सर्वत्रापर्यायात्मकस्य द्रव्यस्या-संभवात् सकलपर्याय शून्यस्य च द्रव्यस्याप्रतीतेरितीतरे। तान् प्रति सूरयो वक्तुमारभन्ते—

न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था —
द्वैयात्म्यमेकार्पणया विरुद्धम्।
धर्मश्च धर्मी च मिथस्त्रिधेमौ—
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ॥४८॥

टीका—न तावत् द्रव्यमेवेति द्रव्यस्य व्यवस्था सकलपर्याय-रहितस्य प्रमाणागोचरत्वात्, न हि प्रत्यक्षं द्रव्यविषयं तस्य व-र्त्तमानविषयत्वात् द्रव्यस्य त्रिकालगोचरानंतविवर्तव्यापित्वात्। न च वर्तमानमात्रविषयत्वे प्रत्यक्षस्य सर्वात्मना त्रिकालवि-षयद्रव्यग्राहित्वं युक्तं योगिप्रत्यक्षत्वप्रसंगात्। तर्हि योगिप्र-त्यक्षमेव द्रव्यविषयमिति चेत् न, अस्मदादिप्रत्यक्षस्य निर्विषयत्वप्रसंगात्। ननु अस्मदादिप्रत्यक्षस्यापि विधातृत्वात् सर्वदा निषेद्धृत्वे विधिविषयत्वाविरोधात् निषेध्यानामानंत्याद-नंतेनापि कालेन निषेधुं कर्तुमशक्तेस्तत्रैवोपक्षीणशक्तिक-त्वात् कदाचित्कस्यचिद्विधौ प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्विधिविषयत्वस्यैव युक्तिमत्त्वमिति चेत्, नैतत्सारं, सद्द्रव्यमात्रे प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तौ प्रभ्वदसत्त्वे प्रवृत्त्यभावात् तदन्यवच्छेदप्रसंगात्। यदि पुनः

सन्मात्रे विधौ प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं तद्विरुद्धमसत्त्वं व्यवच्छिनत्तीति कथ्यते तदाऽपि निषेद्धृ प्रत्यक्षं कथं न स्यात्? यदि पुनः प्रथमाक्षसन्निपातवेलायां निर्विकल्पं प्रत्यक्षं सन्मात्रमेव साक्षात्कुरुते, पश्चादनाद्यविद्यावासनासामर्थ्यादसत् निवृत्तिविकल्पोत्पत्तेः प्रतिषेधव्यवहारोऽस्मदादेः प्रवर्त्तत इति मतं, तदा परमार्थतो नासत्त्वनिवृत्तिरिति सदसदात्मकवस्तुविषयं प्रत्यक्षं प्रसज्येत। सन्मात्रस्य विधिरेवासत्त्वप्रतिषेध इति चेत्, (न) कथमेवं विधात्रेव प्रत्यक्षं निषेद्धृत्वस्यापि तत्रेष्टेः? कथं च स्वयमेव न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति ब्रुवाणः प्रतिषेधं सर्वथा निराकुर्वीत न चेदस्वस्थः। अथाविद्याबलान्न निषेद्धृ प्रत्यक्षमिति निषेधव्यवहारः क्रियते परमार्थतस्तस्याप्यनभिधानात् किमेवमवाच्यं प्रत्यक्षमिष्यते? तथेष्टौ सन्मात्रमप्यवाच्यं स्यात्, तत्त्वयुक्ततरं परप्रत्यायनायोगात् – सन्मात्रं हि तत्त्वं परं प्रत्याययेन्न संविन्मात्रेण परामत्यक्षेण प्रत्याययितुमीशः, परमार्थतः प्रत्याय्यप्रत्यायकभावाभावात् न कश्चित्किंचित् कथंचित् प्रत्याययति सर्वस्य स्वत एव सन्मात्रतत्त्वप्रतिपत्तेरिति चेत्, न विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगात्। यदि पुनः सन्मात्रे तत्त्वे स्वपरविभागाभावात् सर्वस्य भेदस्य तत्रैवानुप्रवेशान्न कश्चित्कुतश्चित्कथंचित्कदाचिद्विप्रतिपद्यत इति चेत्, न स्यादेतदेवं यदि स्वपरविभागाभावः सिद्धयेत्, स हि न तावत्प्रत्यक्षतः सिद्धस्तस्याभावविषयत्वप्रसंगात्, नाऽप्यनुमानात्पक्षहेतुदृष्टांतभेदाभावेऽनुमानानुपपत्तेः, कल्पितस्याप्यनुमानस्य विधिवि-

पयत्वनियमात्, तस्य प्रतिषेधविषयत्वे प्रत्यक्षस्यापि प्रतिषेधविषयत्वसिद्धेःकुतः सन्मात्रत्वसिद्धिः?। आगमात्स्वपरविभागाभावः साध्यत इति चेत्, न, स्वपरविभागाभावे क्वचिदागमानुपपत्तेः । आगमो ह्याप्तवचनमपौरुषेयं वा वचनं स्यात् ? न तावदाप्तस्य तत्प्रतिपाद्यस्य च विनेयस्याभावे वचनमाप्तस्य प्रवर्त्तते।तत्सद्भावे च सिद्धः स्वपरविभाग इति कथमागमात्तदभावः सिध्येत् ? यदि पुनरपौरुषेयं वचनमागमस्तदाऽपि स्वपरविभागः सिद्धस्तद्व्याख्यातुः श्रोतुश्च सिद्धेः स्वपरविभागोपपत्तेः । स्यान्मतं,स्वपरविभागाभावोऽपि न कुतश्चित्प्रमाणात्साध्यते प्रत्यक्षतः सन्मात्रसिद्धेरेव स्वपरविभागाभावस्य साधनात्केवलमविद्याविलासमात्रं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संवेद्यसंवेदकभाववदिति । तदप्यसम्यक्, संवेद्यसंवेदकभावप्रतिपाद्यप्रतिपादकभावाभावे स्वपरप्रतिपत्तिविरोधात् सर्वथा शून्यवादावकाशप्रसंगात् ।

तदुक्तम्—

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्त्तते ।
अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः ॥ इति ॥

तदेतदत्रापि संप्राप्तं । तथाहि—

सर्वथा सदुपायानां वादमार्गः प्रवर्तते ।
अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे सत्त्ववादिनः ॥

ननु च विचारात्पूर्वं तत्त्वाभ्युपगमः पश्चाद्वा ? यदि पूर्वं तदा निष्फलो विचारः स्यात्, तत्त्वाभ्युपगमफलत्वाद्विचारस्य,

तस्य विचारात्प्रागेव सिद्धेः । पश्चाच्चेत् सर्वस्याविचाररमणीयेन लोकव्यवहारेण विचारस्य प्रवृत्तेर्न पर्यनुयोगो युक्तः, विचारकाले हि न कश्चिदपि शून्यवादी सत्ताद्वैतवादी वा, येन सर्वथाऽनुपायत्वाद्वादेऽनधिकारः प्रसज्येत । अनेकान्तवादिनामपि तद्विचारोत्तरकालमेव सर्वमनेकान्तात्मकं तत्त्वमिति प्रतिपत्तव्यं, कथमन्यथा परस्पराश्रयाख्यो दोषो न स्यात्, प्रसिद्धेऽनेकान्तत्वे विचारप्रवृत्तिस्तस्यां च सत्यामनेकान्तप्रसिद्धिरिति गत्यंतराभावात् । किंचिदपि तत्त्वमनभ्युपगम्य परीक्षाप्रवृत्तौ तु न कश्चिद्दोषः परीक्षोत्तरकालं यद्विनिश्चितं तत्तत्त्वमिति व्यवस्थानात् । तथा च सत्ताद्वैतवादिनोऽपि विचारसामर्थ्यात् सत्ताद्वैततत्त्वव्यवस्थितौ यथादर्शनं संवेद्यसंवेदकभावस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावस्य वा स्वपरविभागभावनाधीनस्य प्रतिबंधकाभावात्सर्वमनवद्यमिति केचित् । तदप्यतिमुग्धबुद्धिविजृंभितं, किंचिन्निर्णीतमनाश्रित्य विचारस्यैवाप्रवृत्तेस्तस्य संशयपूर्वकत्वात्, संशयस्य च निर्णयनिबंधनत्वात् पूर्वमनिर्णीतविशेषस्य पश्चात् क्वचित्संशयस्यानुपलब्धेः स्थाणुपुरुषसंशयवत् । य एव हि पूर्वनिश्चितस्थाणुपुरुषविशेषः प्रतिपत्ता तस्यैवान्यत्रोर्ध्वतासामान्यं प्रत्यक्षतो निश्चिन्वतस्तद्विशेषयोः स्मरतः संशयोत्पत्तिदर्शनात् । न चैवं सत्ताद्वैततत्त्वं किं वा सर्वथा शून्यमिति संशय उत्पद्यते पूर्वं तद्विषयनिर्णयानुपपत्तेः । क्वचित्तन्निर्णयोत्पत्तौ वा न सत्त्वाद्वैतवादिनः शून्यवादिनो वा स्वेष्टसिद्धिः । यदि पुनः सर्वमभ्युपगम्य सत्ता-

द्वैतशून्यवादयोरपि क्वचित्कदाचित्तन्निर्णयात्पुनरन्यत्र तत्त्व-सामान्यमुपलब्धवतस्तयोश्चानुस्मरतः संशयप्रवृत्तेर्विचारः प्रव-र्त्तेत एवेति मतं, तदापि येनात्मना सत्ताद्वैतं पूर्वं निर्णीतं तेनैव सर्वशून्यत्वं रूपान्तरेण वा? न तावत्प्रथमः पक्षो व्याघातात् , रूपान्तरेण तु तन्निर्णये स्याद्वादमाश्रित्य विचारः प्रवर्त्तेत इत्येतदायातं। तथा च नानेकांतवादिनां विचारात्पूर्वमनेकांत-त्वाप्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धौ विचाराप्रवृत्तेः। न च विचारादेवानेकां-तत्वसिद्धिः, प्रत्यक्षतः परमागमाच्च सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्र-माणादनेकांतत्वसिद्धेरप्रतिबंधात्, न चैवं विचारानर्थक्यं तद्ब-लादेव तत्त्वसिद्धेरभ्युपगमात्, प्रत्यक्षादागमाच्च प्रतिपन्नतत्त्वस्या-पि कुतश्चिद्दृष्टादृष्टनिमित्तवशात्कस्यचित्क्वाचित्कथंचित् संश-योत्पत्तौ विचारस्यावकाशात् सर्वत्राऽहेतुवादहेतुवादाभ्यामाज्ञा-प्रधानयुक्तिप्रधानयोस्तत्त्वप्रतिपत्तिविधानात्। ततोऽनेकान्तवा-दिन एव वादेऽधिकारः सदुपायत्वात्। क्वचित् कदाचित् कथं-चित् कुतश्चित् कस्यचिन्निश्चयसद्भावात्। किंचिन्निर्णीतमा-श्रित्य क्वचिदन्यत्रानिर्णीते विचारप्रवृत्तेः सर्वत्र विप्रतिपद्यमाना-नां निराश्रयविचारणानुपपत्तेः।

तथा चोक्तं तत्त्वार्थालंकारे—

किंचिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्त्तते।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा॥ इति॥

ततो न विचारसामर्थ्यात् सद्द्रव्यतत्त्वव्यवस्था नाऽपि पर्याय-तत्त्वव्यवस्था, द्रव्यविकलस्य पर्यायमात्रस्य सकलप्रमाणावि-

यगत्वात् द्रव्यैकान्तवत्। प्रत्यक्षतो वर्त्तमानपर्यायः प्रतिभासत एव सर्वस्येदानींतनतया प्रतिभासमानत्वात्। नष्टानुत्पन्नयोरिदानींतनतया प्रतिभासाभावादिति चेत्, नेदानींतनताया एव द्रव्याभावे प्रतिभासविरोधात् नष्टानुत्पन्नावस्थाद्वितयमनपेक्षमाणस्य वर्तमानताप्रतीतेरयोगात्, नित्यत्वसाधनाच्चेदानींतनताप्रतीतेः शश्वदविच्छेदादात्मनोऽहंताप्रतीतिवत्—यथैव ह्यात्मा सुख्यहं दुःख्यहमिति सर्वदाऽप्यवच्छिन्नाहंप्रत्ययविषयभावमनुभवन्न कदाचिदहंतां संत्यजतीति नित्यः, तथा बहिर्वस्त्वपि सततमिदानींतनतां न जहाति प्रागपि इदानीं पश्यामि पश्चादपीदानीं पश्यामीति न सकलो देशो वा कश्चिद्विद्यते यत्रेदानींतनताप्रतीतिर्नास्तीति तदन्यवच्छेदः सिद्धः। ततः समस्तं वस्तु विवादापन्नं नित्यमेवेदानीन्तनतया प्रतीयमानत्वात्, प्रतिक्षणविनाशित्वे तद्विरोधात्।

स्यान्मतं, पूर्वेदानींतनतान्या पाश्चात्या च वर्त्तमानेदानींतनता, न ततस्तयोः संतानाविच्छेदः, प्रतिक्षणं तद्विच्छेदादिति। तदसत्, तद्विच्छेदग्राहिणः कस्यचिदसंभवात्। न हि तावत्सांप्रतिकमिदानींतनतायाः संवेदनं पूर्वापरेदानींतनतासंवेदनविच्छेदं ग्रहीतुमलं तदा स्वयमभावात्। नाप्यनुमानं तद्विच्छेदाविनाभाविलिंगग्रहणासंभवात्। यो हि कदाचित् क्वचित्पूर्वापरेदानींतनविच्छेदमुपलभते स एव तत्स्वभावस्य तत्कार्यस्य वा लिंगस्य तेनाविनाभावं साकल्येन तर्कयेत् न पुनरन्योऽतिप्रसंगात्। न च स्वयं पूर्वापरकालमव्याप्नुवन्

पूर्वापरेदानींतनतासंवेदनयोर्विच्छेदमुपलब्धुं समर्थः। सन्तान-स्तादृक् समर्थ इति चेत्, न, तस्यावस्तुत्वे सकलसामर्थ्या-नुपपत्तेः, वस्तुत्वे पुनरात्मन एव संतान इति नामकरणा-न्नित्यात्मसिद्धेः। स्यान्मतिरेषा ते, पूर्वापूर्वेदानींतनतासंवेद-नाहितवासनाप्रबोधात् तद्विच्छेदनिश्चयोत्पत्तेर्न नित्यात्मसंसि-द्धिरिति, साऽपि न सम्यक्। पूर्वापरेदानींतनतानिश्चयस्यैव तत्संवेदनाहितवासनाप्रबोधादुत्पत्तेर्यथानुभवनिश्चयोपजननसं-भवात् न पूर्वापूर्वविच्छेदोऽनुभूतः। ननु प्रत्यक्षतः स्वरूपा-नुभव एव संवेदनस्य पूर्वापरसंवेदनविच्छेदानुभव इति चेन्न तदविच्छेदानुभवस्यापि स्वरूपानुभवरूपत्वसिद्धेरप्रतिबंधात्। पूर्वस्मात् परस्माच्च संवेदनादिदं संवेदनं विच्छिन्नमिति निश्च-योत्पत्तेः संवेदनस्वरूपानुभवस्तद्विच्छेदानुभव एवेति चेत्, नाविच्छिन्नमहमामुहूर्त्तादेरन्वभवमित्यविच्छेदनिश्चयप्रादुर्भावा-त्तदविच्छेदानुभवस्यैव सिद्धेस्ततो निरतरमिदानींतनतया वहिरन्तश्च वस्तुनः प्रतीयमानत्वं कथंचिन्नित्यत्वमेव साध-यतीति नातः क्षणस्थितिपर्यायमात्रसिद्धिः नाप्यनुमानाल्लि-गाभावात्। यत् सत्तत्सर्वं क्षणस्थितीति पर्यायमात्रं नित्यद्र-व्यमात्रे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्वानुपपत्तेरित्यनु-मानं पर्यायमात्रवस्तुसाधनमिति चेत्, न, विरुद्धसाधनादस्य विरुद्धत्वात्। तथा हि—यत् सत्तत्सर्वं द्रव्यपर्यायरूपं जात्यंतरं पर्यायमात्रे सर्वथाऽर्थक्रियाविरोधात् द्रव्यमात्रवत् सत्वायोगादिति निरूपितप्रायं। ततः सूक्तं न पर्यायैकांत-

व्यवस्था प्रमाणाभावात् द्रव्यैकांतवदिति। पृथग्भूतपरस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायव्यवस्थाऽप्यनेन प्रत्युक्ता तत्राऽपि प्रमाणाभावाविशेषात्। न हि प्रत्यक्षतः सर्वथा पृथग्भूतयोर्द्रव्यपर्याययोः प्रतीतिरस्ति तयोरविष्वग्भूतयोरेव सर्वदा संवेदनात्। समवायात्तथा प्रतीतिरिति चेत्, सोऽपि समवायस्ताभ्यां पदार्थान्तरभूतो न प्रत्यक्षतः सिद्धस्तदात्मकस्यैव कथंचित्तस्य प्रतीतेः। अथ समवायसमवायिनोः परस्परमात्मनोश्च ताभ्यामभेदप्रत्ययहेतुरित्यभिधीयते, न तर्हि प्रत्यक्षतो भेदप्रतिभासो नाऽप्यनुमानात् द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तः सिद्धस्तथाविधहेत्वभावात्। ननु द्रव्यपर्यायौ मिथो भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात्। यौ यौ भिन्नप्रतिभासौ तौ तौ भिन्नौ यथा घटपटौ तथा च द्रव्यपर्यायौ भिन्नप्रतिभासौ तस्माद्भिन्नावित्यनुमानात् मिथो भिन्नद्रव्यपर्यायव्यवस्था भवत्येवेति चेत्, न, हेतोरसिद्धत्वात्, भिन्नप्रतिभासत्वं हि द्रव्यपर्याययोर्न प्रत्यक्षतः सर्वथाऽस्तीति समर्थितं प्राक्। अनुमानाद्भिन्नप्रतिभासत्वमिति चेत् किमस्मादेवानुमानादनुमानान्तराद्वा। न तावदाद्यः पक्षः परस्पराश्रयानुषंगात्। सिद्धे ह्यतोऽनुमानाद्भिन्नप्रतिभासित्वे सतीदमनुमानं सिध्यति, सिद्धे वाऽस्मिन्ननुमाने भिन्नप्रतिभासत्वमिति गत्यन्तराभावात्। अनुमानान्तराद्भिन्नप्रतिभासत्वसिद्धौ तदेव वाच्यं द्रव्यपर्यायौ भिन्नप्रतिभासौ विरुद्धधर्माधिकरणत्वात् यौ यौ विरुद्धधर्माधिकरणौ तौ तौ सर्वथा भिन्नप्रतिभासौ यथा जलानलौ तथा च द्रव्यपर्यायौ तस्माद्भिन्नप्रतिभासावित्यनुमा-

नस्य प्रत्यक्षविरुद्धपक्षत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वाच्च हेतोर्नातः साध्यसिद्धिः। एतेनावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोः सामान्यतद्वतोः विशेषतद्वतोश्च परस्परतः सर्वथा भेदे साध्ये प्रयुज्यमानस्य हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिवर्णितं पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वात्। कथंचित् तादात्म्यवर्त्तिनोरेवाविष्वग्भूतयोस्तयोः प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात्। कथंचिद्भेदे साध्ये सिद्धसाध्यतापत्तिस्तत्र प्रत्यक्षस्य भ्रांतत्वादबाधकत्वे वहिरंतश्च न किंचित् प्रत्यक्षतः सिध्येत् भ्रांतादपि प्रत्यक्षात् कस्यचित्सिद्धौ प्रत्यक्षतदाभासव्यवस्था किमर्थमास्थीयेत ? न च भ्रांतं प्रत्यक्षं धर्मिदृष्टान्तहेतुव्यवस्थापनायालं, यतोऽनुमानमत्यंतभेदमवयवावयव्यादीनां व्यवस्थापयदभेदप्रतिभासिनः प्रत्यक्षस्य बाधकमनुमन्येमहि ततोऽनुमानं कस्यचिद्बाधकं साधकं वा स्वयमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षमभ्रान्तं धर्मिदृष्टांतहेतुविषयमुररीकर्त्तव्यं तच्चोररीकुर्वता न द्रव्यपर्यायौ परस्परमत्यंतभिन्नौ प्रतिज्ञातव्यौ प्रत्यक्षबुद्धौ सकृदपि तथा प्रतिभासाभावात् ततो न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था युक्तिमती द्रव्यव्यवस्थावत्पर्यायव्यवस्थावच्चेति प्रपंचतोऽन्यत्र परीक्षितं प्रतिपत्तव्यम्।

अत्रापरः प्राह, द्व्यात्मकमेकं तत्त्वं व्यवतिष्ठते द्रव्यमात्रस्य पर्यायमात्रस्य च पृथग्भूतद्रव्यपर्यायमात्रवत् व्यवस्थानुपपत्तेरिति। सोऽप्येवं प्रष्टव्यः, किं सर्वथा द्वैयात्मकमेकस्याप्यते कथंचिद्वा ? प्रथमपक्षे द्वैयात्म्यमेकार्पणाया विरुद्धं न व्यवतिष्ठत एव, यो ह्यात्म

द्रव्यप्रतीतिहेतुर्यश्च पर्यायप्रतीतिनिमित्तं तौ चेत्परस्परं भिन्नावा-
त्मानौ कथं तदात्मकमेकं तत्त्वं[1] सर्वथा व्यवतिष्ठते भिन्नाभ्यामात्म-
भ्यामभिन्नस्यैकत्वविरोधात्। यदा त्वेकस्मादभिन्नौ तावात्मानौ
स्यातां तदाप्येकमेवावतिष्ठते सर्वथैकस्मादभिन्नयोस्तयोरेकत्व-
सिद्धेरिति न द्वैयात्म्यं विरुद्धत्वात्। को ह्यत्रालिशः प्रमाणमंगी-
कुर्वन् द्वावात्मानौ सर्वथैकस्य वस्तुनो भिन्नौ स्वयमर्पयेत् ततो द्वैया-
त्म्यं द्व्यात्मकत्वं तत्त्वं सर्वथैकार्पणया विरुद्धमेवेति मन्तव्यम्।
कथमिदानीमविरुद्धं तत्त्वं सिध्येदिति चेत्, उच्यते—

"धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ"।

ते तव भगवतोऽर्हतः स्याद्वादिन इमौ प्रत्यक्षतः प्रतिभासमानौ
सर्वथा सर्वेणाऽपि प्रकारेणानुमानादिप्रतिभासविशेषेण वि-
रुद्धौ नेति संबंधः। कौ ताविमौ धर्मी च धर्मश्चेति धर्मिधर्मावि-
त्यर्थः। किं तौ सर्वथा मिथो भिन्नावेवाभिन्नावेव भिन्नाभि-
न्नावेव त्रिधा वा कल्प्येते। न तावत्प्रथमः पक्षः प्रमाणविरोधात्।
नाऽपि द्वितीयः सहानवस्थाविरोधात्। नाऽपि तृतीयो विकल्पः,
भिन्नौ चाभिन्नौ चेत्युभयदोषानुषंगेण विरुद्धत्वादिति कथमवि-
रुद्धौ तौ यतस्तेऽभिमताविति न मन्तव्यम्, त्रिधापि तयोरभिमत-
त्वात्। तथाहि—धर्मिधर्मौ स्यादभिन्नौ द्रव्यार्थिकप्राधान्यात्,
स्याद्भिन्नौ पर्यायार्थिकप्राधान्यात्, स्यान्मिथो भिन्नौ चाभिन्नौ
च क्रमार्पितद्वयादिति त्रिभिः प्रकारैः स्याद्वादन्यायवादिभि-
र्व्यवस्थाप्यते। न पुनः सर्वथाऽर्पितौ त्रिधापि धर्मधर्मिणौ प्रत्य-

---

१ द्रव्यमिति पुस्तकान्तरे।

क्षादिप्रमाणाविरुद्धौ तेऽभिमतौ, ततो वाक्यं न धर्ममात्रं न धर्मिमात्रं वा प्रतिपादयतीति न सर्वथाप्यभिन्नौ धर्मधर्मिणौ न सर्वथा भिन्नौ नाऽपि सर्वथा भिन्नाभिन्नौ प्रतीतिविरोधात् । द्रव्यैकान्तस्य पर्यायैकान्तस्य च परस्परनिरपेक्षपृथग्भूतद्रव्यपर्यायैकान्तवत् व्यवस्थानुपपत्तेः समर्थनात्, तत्र युक्त्यनुशासनायोगात् । किंपुनर्युक्त्यनुशासनमित्याहुः—

> दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थ—
> प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।
> प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-
> तत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम् ॥ ४९ ॥

टीका—दर्शनं दृष्टं प्रत्यक्षं, आप्तवचनमागमः । दृष्टं चागमश्च दृष्टागमौ ताभ्यामविरुद्धमबाधितविषयं यदर्थात्साधनरूपादर्थस्य साध्यस्य प्ररूपणं तदेव युक्त्यनुशासनं युक्तिवचनं ते तव भगवतोऽभिमतामिति पदघटना । तत्रार्थस्य प्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति वचने प्रत्यक्षमपि युक्त्यनुशासनं प्रसज्येत तद्व्यवच्छेदार्थमर्थात्प्ररूपणमिति व्याख्यायते सामर्थ्यादर्थस्य तदिति प्रतीतेः । तथाऽपि शीतोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवदिति, प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः कर्मत्वादधर्मवदिति च प्रत्यक्षाविरुद्धमागमविरुद्धं चार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं प्राप्तमिति न शंकनीयम् । दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमित्यभिधानात् । तथा चान्यथाऽनुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासन-

मिति प्रकाशितं भवति दृष्टागमाभ्यामविरोधस्यान्यथानुपपत्ते-रिति देवागमादौ निर्णीतप्रायम् । अत्रोदाहरणमुच्यते—प्रति-क्षणं स्थित्युदयव्ययात्मार्थरूपं सत्त्वादिति । न तावत्प्रत्यक्ष-विरुद्धः पक्षः, स्थित्युदयव्ययात्मनोऽर्थरूपस्य बहिर्घटादेरिवांत-रात्मनोऽपि साक्षादनुभवात्, स्थितिमात्रस्य सर्वत्रासाक्षात्कर-णादुदयव्ययमात्रवत् । न चायं स्थित्युदयव्ययात्मनोऽर्थरूप-स्यानुभवः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणात्प्रतिक्षणमनुपपन्नः कालान्तरे स्थित्युदयव्ययदर्शनात्तत्प्रतीतिसिद्धेरन्यथा सकृदपि तदयोगात् खरविषाणादिवदिति न प्रत्यक्षविरोधः । नाऽप्याग-मविरोधोऽस्य युक्त्यनुशासनस्य संभाव्यते । "उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सदिति" परमागमस्य प्रसिद्धत्वात्सर्वथैकान्तागमस्या-प्रसिद्धेर्दृष्टेष्टविरुद्धार्थाभिधायित्वान्मतारकपुरुषवचनवदिति नि-रवद्यः पक्षः प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकस्य विवादाध्या-सितस्य साध्यधर्मस्य जीवादेरर्थरूपस्य च साध्यधर्मिणः प्र-सिद्धस्याभिधानात् । तथा हेतुश्च सत्त्वादिति नासिद्धः सर्वे-त्रार्थरूपे तदभावे सर्वाभावप्रसंगात् । नाऽपि संदिग्धः सर्वत्र सत्त्वस्य संदेहे संदेहस्याऽपि सत्त्वनिश्चयविरुद्धत्वात् । नाप्य-ज्ञातासिद्धो हेतुः सर्वस्य वादिनः सत्त्वपरिज्ञानाभावे वादित्व-विरोधात् । नाप्यनैकान्तिकः कार्त्स्न्यतो देशतो वा विपक्षाद्वृ-त्त्यभावात् । द्रव्येण स्थितिमता जन्मव्ययरहितेन सता पर्यायमा-त्रेण चोत्पादव्ययवता स्थितिशून्येन हेतोरनैकान्त इति चेत्, न सत्त्वस्य वस्तुलक्षणरूपस्य हेतुत्वात् सत्त्वधर्मस्य नयविषयस्य

हेतुत्वानभ्युपगमात् । न च द्रव्यमात्रं वस्तु पर्यायमात्रं वा तस्य वस्त्वेकदेशत्वात् द्रव्यपर्यायात्मनो जात्यंतरस्य वस्तुनः प्रमाणसिद्धत्वात् । न च द्रव्यस्य पर्यायस्य वा वस्तुत्वाभावादवस्तुत्वप्रसंगस्तस्य वस्त्वेकदेशत्वेन वस्तुत्वावस्तुत्वाभ्यामनवस्थानात् समुद्रैकदेशस्य समुद्रत्वासमुद्रत्वाभ्यामनवस्थानवत् । न च वस्तुत्वस्य सत्त्वस्य हेतुत्वे तदेकदेशेन द्रव्यसत्त्वेन पर्यायसत्त्वेन वा व्यभिचारोद्भावना युक्ता सर्वस्य हेतोर्व्यभिचारप्रसंगात् सकलजनप्रसिद्धस्य वह्न्यादिसिद्धौ धूमादिसाधनस्यापि तदेकदेशेन पांडुत्वादिना व्यभिचारमुद्भावयन् कथमनेनापाक्रियेत ? धूमस्य हेतुत्वे तदेकदेशेन पांडुत्वादिना न व्यभिचारस्तन्मात्रस्याहेतुत्वादिति चेत् तर्हि सत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य हेतुत्वेन तदेकदेशेन द्रव्यसत्त्वेन पर्यायसत्त्वेन वा कथमनैकांतिकत्वमुद्भावयेत् न चेदस्वस्थः । ननु च सत्त्वं वस्तुत्वविरुद्धं विपर्ययस्यैव साधनादिति न मन्तव्यम् । स्थितिमात्र इवोदयव्ययमात्रेऽपि तदसंभवात् । तथा हि-सत्त्वमिदमर्थक्रियया व्याप्तं तदभावे तद्विरोधात् खपुष्पवत्, सा च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता तदभावे तदभावात्तद्वत् । ते च क्रमयौगपद्ये प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकत्वेन व्याप्ते तदस्थित्येकान्तादुदयव्ययैकान्तादिव निवर्त्तमानं ततः क्रमयौगपद्ये निवर्त्तयेत्, ते च निवर्त्तमाने स्वव्याप्यामर्थक्रियां निवर्त्तयतः, सा च निवर्त्तमाना स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्त्तयतीति, ततो निवर्त्तमानं सत्त्वं तीरादर्शिशकुनिन्यायेन प्रतिक्षणं स्थित्यु-

दयव्ययात्मन्येवार्थरूपे व्यवतिष्ठत इति कथं विपर्ययं साधयेद्यतो विरुद्धमभिधीयेत । सपक्षे सत्त्वाभावादसाधारणानैकान्तिको हेतुरिति चेत्, कोऽयमसाधारणो नाम? सपक्षविपक्षयोरसन्नसाधारण इति चेत् स किं तत्र निश्चितासद्भावः संदिग्धासद्भावो वा? प्रथमपक्षे नानैकांतिकः स्यात्, सर्वथा विपक्षे निश्चितासत्त्वस्य सम्यग्धेतुत्वात्, सम्यग्हेतोर्विपक्षासत्त्वनियमनिश्चयलक्षणत्वात् तदभावे सपक्षे सतोऽपि गमकत्वायोगात् । सपक्षसत्त्वनियमस्य हेतुलक्षणत्वाव्यवस्थितेस्तदभावेऽपि हेतोर्गमकत्वसिद्धेः । यदि पुनर्द्वितीयः पक्षः सपक्षविपक्षयोः संदिग्धासद्भावोऽनैकांतिक इति चेत् तदा न सत्त्वादिति हेतुरसाधारणानैकांतिकः प्रमाणबलाद्विपक्षे तस्यासद्भावनिश्चयात् संशयासंभवादनैकांतिकत्वविरोधात् । संशयहेतुरनैकांतिक इति सामान्यतोऽनैकान्तिकलक्षणप्रसिद्धेः । ततोऽसिद्धविरुद्धानैकांतिकत्वविमुक्तत्वात्सूक्तमिदं युक्त्यनुशासनोदाहरणं प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मकमर्थरूपं सत्त्वादिति । ननु च येन रूपेण स्थितिर्वस्तुनस्तेन स्थितिरेव येनोदयस्तेनोदय एव येन व्ययस्तेन व्यय एवेति व्यवस्थायां नानेकान्तात्मकवस्तुसिद्धिः स्थित्याद्येकान्तस्यैव प्रसिद्धेः, इति न मन्तव्यं, तत्त्वव्यवस्थमिति वचनात्, तत्र स्थित्युदयव्ययात्मार्थरूपं प्रतिक्षणमव्यवस्थं न विद्यते व्यवस्थाऽस्येति व्याख्यानात् । येन हि रूपेण वस्तु तिष्ठति तेनोत्पद्यते नश्यति च, स्थितं स्थास्यति च उत्पन्नमुत्पत्स्यते च नष्टं नंक्ष्यति च । येन

चोत्पद्यते तेन तिष्ठति नश्यति च उत्पन्नं स्थितं नष्टं च उत्प-त्स्यमानं स्थास्यन्नंद्क्ष्यंश्च । येन च नश्यति तेनोत्पद्यते तिष्ठति च तथा नष्टमुत्पन्नं स्थितं च नंद्क्ष्यत्युत्पत्स्यते स्थास्यति चेति न क्वचिद् व्यवस्था येनैकान्तप्रसंगः; कथंचिद्व्यवस्थितस्यैव तत्त्वस्यार्थक्रियाकारित्वप्रसिद्धेः । पटमुदाहरणीकृत्य सर्वमेत-दुक्तव्यं, तथा हि-पटः प्रारंभक्षणापेक्षयोत्पद्यते तिष्ठति विनश्यति चानारंभसमयापेक्षया द्वितीयक्षणापेक्षया तूत्पत्स्यते स्थास्यति नंक्ष्यति च निर्वृत्तस्वरूपापेक्षयोत्पन्नः स्थितो नष्टश्च पूर्वाविनिर्वृत्तरूपेणेति प्रातीतिकमेतत् ।

ननु चैकमेव वस्तु नानास्वभावमेवमायातं तच्च विरुद्धं कुतोऽवतिष्ठत इत्याहुः—

> **नानात्मतामप्रजहत्तदेक-**
> **मेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।**
> **अंगांगिभावात्तव वस्तु तद्यत्**
> **क्रमेण वाग्वाच्यमनंतरूपम् ॥ ५० ॥**

टीका—यदेकं वस्तु सत्त्वैकत्वप्रत्यभिज्ञानात् सिद्धं तन्नानात्मतामपरित्यजदेव वस्तुत्वं लभते, समीचीननानाप्र-त्ययविषयत्वात् यत्तु नानात्मतां जहाति न तद्वस्तु यथा पर-परिकल्पितात्माद्यद्वैतं, वस्तु च विवादापन्नं जीवादि तस्मान्ना-नात्मतामप्रजहदेव प्रतिपत्तव्य । तथा यदबाधितनानाप्रत्ययब-लान्नाना प्रसिद्धं तदेकात्मतामजहदेव तव वस्तु सम्मतं तस्या-

न्यथा वस्तुत्वविरोधात् पराभ्युपगतनिरन्वयनानाक्षणवत्। ततो जीवादिपदार्थजातं परस्पराजहद्वृत्त्येकानेकस्वभावं वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेरिति युक्त्यनुशासनं। तत्कथं वाचा वक्तुं शक्यत इति न शंकनीयं क्रमेण तस्य वाग्वाच्यत्वात्। न हि युगपदेकात्मतया नानात्मतया च वस्तूच्यते वाचा, तादृश्या वाचोऽसंभवात्। न चैवं क्रमेण प्रवर्त्तमानाया वाचोऽसत्यत्वप्रसंगस्तस्याः स्वविषये नानात्वे चैकत्वे चांगांगिभावात् प्रवृत्तेः। स्यादेकमेवेति वाचा हि प्रधानभावेनैकत्वं वाच्यं गुणभावेन नानात्वं स्यान्नानैव वस्त्विति वाचा प्राधान्येन नानात्वं वाच्यं गुणभावेनैकत्वमिति कथमेनमेकत्वनानात्ववाचोरसत्यता स्यात्? सर्वथैकत्ववाचा नानात्वनिराकरणात् नानात्वनिराकरणे हि तथैकत्वस्यापि तदविनाभाविनो निराकरणप्रसंगादसत्यत्वपरिप्राप्तेरभीष्टत्वात् तथाऽनुपलभ्यमानत्वात्। नानात्ववाचा चैकत्वस्य निराकरणात्तन्निराकरणे तदविनाभाविनानात्वनिराकृतिप्रसंगात् सत्यत्वविरोधात्। ततः क्रमेणानंतरूपं यद्वस्तु तत् तवांगांगिभावादेव वाग्वाच्यं बोद्धव्यम्। अंगं ह्यप्रधानमंगि प्रधानं तद्भावो गुणप्रधानभावस्तमाश्रित्य नानात्वैकत्ववचने यथार्थाभिधायित्वमेव वाच्यं व्यवतिष्ठते।

ननु च भवतु नामानंतधर्मविशिष्टं वस्तु ते तु धर्माः परस्परनिरपेक्षा एव, पृथग्भूतश्च तेभ्यो धर्मीति मतमपाचिकीर्षवः प्राहुः—

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु-
र्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम् ॥५१॥

टीका—अंशा धर्मा वस्तुनोऽवयवास्ते च परस्परनिरपेक्षाः पुरुषार्थस्य हेतवो न संभवन्ति तथाऽनुपलभ्यमानत्वात्। यद्यथाऽनुपलभ्यमानं तत्तथा न व्यवतिष्ठते यथाऽग्निः शीततयाऽनुपलभ्यमानस्तद्रूपतयाऽनुपलभ्यमानाश्च पुरुषार्थहेतुतया परस्परनिरपेक्षाः सत्त्वादयो धर्माः कचिदवयवा वा तस्मान्न पुरुषार्थहेतुतया व्यवतिष्ठन्त इति युक्त्यनुशासनं दृष्टागमाभ्यामविरुद्धत्वात्, तथांशाः परस्परापेक्षाः पुरुषार्थहेतुतया व्यवतिष्ठंते तथैव दृष्टत्वात्। यद्यथा दृष्टं तत्तथैव व्यवतिष्ठते, यथा दहनो दहनतया दृष्टः, तत्स्वभावतया दृष्टाश्च पुरुषार्थहेतुतयांऽशाः परस्परापेक्षाः तस्मात्तथैव व्यवतिष्ठंत इति स्वभावोपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्वा स्वपरपक्षविधानप्रतिषेधयोर्बोद्धव्या। तथा नांशेभ्योंऽशी पृथगस्ति तथाऽनुपलभ्यमानत्वात्, यद्यथाऽनुपलभ्यमानं तत्तथा नास्त्येव यथा तेजः शीततया, सर्वदाऽनुपलभ्यमानश्चांशेभ्यः पृथगंशी तस्मान्नास्तीति स्वभावानुपलब्धिः। न चात्र दृष्टविरोधः परस्परविभिन्नानामर्थानां सह्यविन्ध्यादीनामंशांशिभावस्यादृष्टत्वात्। न चागमविरोधस्तत्प्रतिपादकागमाभावात्, परस्परविभिन्नांशां-

शिभावप्रतिपादकागमस्य युक्तिविरुद्धत्वादागमाभासत्वसिद्धेः ।

स्यान्मतमंशेभ्योंऽशी पृथगेव पृथक्प्रत्ययविषयत्वात् । यो यतः पृथक्प्रत्ययविषयः स ततः पृथगेव यथा स्तम्भेभ्यः कुड्यं, पृथक्प्रत्ययविषयश्चांशेभ्योंऽशी, तस्मात्पृथगेवेति । तदप्यसम्यक्, सर्वथा पृथक्प्रत्ययविषयत्वस्य हेतोरसिद्धत्वात्कथंचिदपृथक्प्रत्ययविषयत्वात् । समवायादपृथक्प्रत्यय इति चेत्, न, सर्वथा भिन्नयोः समवायासंभवात् सह्यविंध्यवत् । संभवन्नपि समवायः पदार्थान्तरभूतः कथमिहांशेष्वंशीति प्रत्ययहेतुरुपपद्यते ? सह्ये विंध्य इति प्रत्ययहेतुत्वप्रसंगात् । प्रत्यासत्तिविशेषादिहांशेष्वंशीति प्रत्ययमुपजनयति समवायो न पुनरिह सह्ये विंध्य इति प्रत्ययमुत्पादयति प्रत्यासत्तिविशेषाभावादिति चेत्, कः पुनः प्रत्यासत्तिविशेषः समवायसमवायिनोः संभाव्येत ? विशेषणविशेष्यभाव इति चेत्, तर्हि समवायिनोः समवायो विशेषणं किमर्थान्तरभूतमनर्थान्तरभूतं वा ? यद्यर्थान्तरभूतं विशेषणं तदांशांशिनोरिव सह्यविंध्ययोरपि समवायो विशेषणं स्यादर्थान्तरभूतत्वाविशेषात् । यदि पुनरनर्थान्तरभूतं विशेषणं समवायः समवायिनोरग्नेरौष्ण्यवदुपवर्ण्यते तदा कथंचित्तादात्म्यमेव समवाय इति नांशेभ्योंऽशी सर्वथा पृथगवतिष्ठते तत्समवायस्याविष्वग्भावलक्षणस्य कथंचित्तादात्म्यस्यैव प्रसिद्धेस्ततः परस्परापेक्षा एवांशांशिनः पुरुषार्थहेतुरिति निश्चितप्रायं । तद्वदेव नया नैगमादयः परस्परापेक्षा एवार्थक्रियायां दृष्टा इति घटनीयं । तथाहि-

नैगमादयो नयाः परस्परापेक्षाः पुरुषार्थहेतवस्तथादृष्टत्वा-दंशांशिवत् । तदनेन स्थितिग्राहिणो द्रव्यार्थिकभेदा नैगम-संग्रहव्यवहाराः, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययग्राहिणश्च पर्यायार्थिक-भेदा ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूताः परस्परापेक्षा एव वस्तु-साध्यार्थक्रियालक्षणपुरुषार्थनिर्णयहेतवो नान्यथेति दृष्टाग-माभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं यत्सत्तत्सर्वं प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्मकमन्यथा सत्त्वानुपपत्तेरिति युक्त्यनुशासनमुदाहृतं प्रतिपत्तव्यम् ।

ननु च परस्परनिरपेक्षाः नयाः क्वचिदपि पुरुषार्थमसा-धयन्तोऽपि सत्तामात्रेण व्यवस्थितिं प्रतिपद्यंत एव सांख्या-भिमतपुरुषवदिति न मन्तव्यम् । तेषामसत्क्रियायामपि हेतु-त्वानुपपत्तेस्तद्वत्, यथैव हि परस्परनिरपेक्षा नयाः पुरुषार्थ-क्रियायां धर्मार्थकाममोक्षलक्षणायां हेतवो न संभवंति तथा-सत्क्रियायामपि सत्तालक्षणायां खरविषाणादिवत्, ततः परस्परापेक्षा एव प्रतिक्षणं स्थित्युत्पत्तिव्ययाः सत्त्वं वस्तुल-क्षणं प्रतिपद्यंत इत्यनेकांतसिद्धिः । स्यादाकूतं, जीवादिव-स्तुनोऽनेकांतात्मकत्वेन निश्चये स्वात्मनीव परात्मन्यपि रागः स्यात्कथंचित्स्वात्मपरात्मनोरभेदात्तथा परात्मनीव स्वात्मन्यपि द्वेषः स्यात्तयोः कथंचिद्भेदात्, रागद्वेषनिबंधनाश्चेर्ष्यासू-यामदमानादयो दोषाः संसारहेतवः सकलविक्षेपकारिणः स्वर्गापवर्गप्रतिबंधकारिणः प्रवर्त्तन्ते, ते च प्रवर्तमानाः क्षमत्वं मनसो निवर्त्तयन्ति, तद्विनिवर्तनं समाधिं निरुणद्धीति

समाधिहेतुकं निर्वाणं कस्यचिन्न स्यात्ततो मोक्षकारणं मनः-समत्वं समाधिलक्षणमिच्छता नानेकांतात्मकत्वं जीवादिवस्तुनोऽभ्युपगन्तव्यमिति । तदपि न समीचीनमित्याहुः—

एकान्तधर्माभिनिवेशमूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥ ५२ ॥

टीका—एकान्तो नियमोऽवधारणं, धर्मो नित्यत्वादिस्वभावः, एकान्तेन निश्चितो धर्म एकान्तधर्म इति मध्यमपदलोपी समासः । 'तृतीयान्तात् क्त उत्तरपदे' इत्युपसंख्यानात् "गुडेन संस्कृता धाना गुडधानाः" इत्यादिवत् । एकान्तधर्मेऽभिनिवेश एकान्तधर्माभिनिवेशः, नित्यमेव सर्वथा न कथंचिदनित्यमित्यादि मिथ्यात्वश्रद्धानं मिथ्यादर्शनमिति यावत् । एकांतधर्माभिनिवेशो मूलं कारणं येषां ते एकान्तधर्माभिनिवेशमूलाः, रागादयो रागद्वेषमायामाना अनंतानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्च कषायाः, तथा हास्यादयो नव नोकषायाश्चादिग्रहणेन गृह्यन्ते । ननु च रागो लोभस्तदादयो दोषाः कथं मिथ्यादर्शनमूलाः स्युरसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसांपरायांतेषु मिथ्यादर्शनाभावेऽपि भावात् इति न मन्तव्यम्, तेषामनन्तसंसारकारणानां मिथ्यादर्शनाभावे संभवाभावात् मिथ्यादृशां मिथ्या-

दर्शनसद्भाव एव भावात् मिथ्यादर्शनमूलत्वसिद्धेः। परेषां पुनरसंयतसम्यग्दृष्ट्यादिषु लोभादीनामसंयमप्रमादकषायपरिणाममूलत्वेऽपि मिथ्यादृशि मिथ्यादर्शनसद्भाव एव भावान्मिथ्यादर्शनमूलत्वसिद्धिः। यद्येवमुदासीनावस्थायामपि मिथ्यादर्शनानामेकांतवादिनां रागादयो जायेरन्निति न शंकनीयमहंकृतिजा इति वचनात्। अहंकृतिरहंकारोऽहमस्य स्वामीति जीवपरिणामः सामर्थ्यादिदं मम भोग्यमित्यात्मपरिणामो ममकारः प्रतिपादितो भवति, अहंकृतेर्जाता अहंकृतिजा ममकाराहंकारजा इत्यर्थः। तेन मिथ्यादर्शनपरिणाम एव यदा ममकारोऽहंकारसचिवो भवति तदैव रागादीनुपजनयति न पुनरुदासीनदशायामित्येकान्ताभिनिवेशमहामोहराजजनिता एव रागादयः।

तथा चोक्तम्—

ममकाराहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य।
रागादिसकलपरिकरपरिपोषणतत्परौ सततम्॥ इति॥

ननु च भवंतु नाम रागादयोऽहंकारजन्मानो जनानां मोहवतां, वीतमोहानां तु सत्यप्यहंकारे रागाद्यभावात् कथं ते तज्जाः स्युरिति न चोद्यं, मिथ्यादर्शनादिसहकारिण एवाहंकारस्य रागादिजनने सामर्थ्यात्तद्विकलस्यासामर्थ्यात्। न चावश्यं कारणानि कार्यं जनयंति मुर्मुरांगारावस्थाग्निवत्। ननु चैकान्ताभिनिवेशो मिथ्यादर्शनमिति कुतो निश्चीयत इति चेत्, अनेकांतात्मकस्यैव वस्तुनः प्रमाणतो निश्चयात्, सन्नयाच्च सम्यगे-

कान्तस्य प्रतिपक्षापेक्षस्य व्यवस्थापनाच्चैकान्ताभिनिवेशस्य मिथ्यादर्शनत्वप्रसिद्धेरिति निर्णीतप्रायं । ततः सम्यग्दृष्टेरेकांतहाने तद्विरोधिनोऽनेकांतस्य निश्चयात्तस्यैवैकांतहानाच्च स एकांतधर्माभिनिवेशो यत्तदेव स्यात् यत्किंचित्स्यान्न स्यादित्यर्थः । सति ह्येकांतधर्मे कस्यचित्तदभिनिवेशः संभाव्यते तस्य तद्विषयत्वात्, तदभावे तु यद्वास्तवं रूपमात्मनो यथार्थदर्शनं तदेव स्यादेकांताभिनिवेशाभावस्य सम्यग्दर्शनभावरूपत्वात्, तस्यैव स्वाभाविकत्वं सिद्ध्येदात्मनः स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते तव भगवतोऽर्हतो युक्त्यनुशासने सद्दृष्टेर्भवतीति वाक्यार्थः। दर्शनमोहोदयमूले हि चारित्रमोहोदये जायमाना रागादयो जनानामस्वाभाविका एव तेषामौदयिकत्वात्, दृङ्मोहहानाच्च चारित्रमोहोदयहाने रागादीनामभवात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणामानां स्वाभाविकत्वं । तत्सम्यग्दर्शनस्यौपशमिकत्वं क्षायोपशमिकत्वं क्षायिकत्वं वा स्वाभाविकत्वमात्मरूपत्वात् । सम्यग्ज्ञानस्य च क्षायोपशमिकत्वं क्षायिकत्वं वा । सच्चारित्रस्य तु सद्दर्शनवदौपशमिकत्वादित्रयं स्वाभाविकत्वं न पुनः पारिणामिकत्वं तस्य कर्मोपशमादिनिरपेक्षत्वात् । कथमसंयतसम्यग्दृष्टेः समं मनः स्यादसंयमस्य रागद्वेषात्मनः सद्भावादिति चेत्, क्वचिदेकांते रागाभावात्परत्र द्वेषाभावाच्च विवक्षिताविवक्षितयोरेकान्तयोरुदासीनत्वसिद्धेरविवक्षितस्याप्यनिराकरणात् तन्मात्रस्य मनःसमस्य सद्भावादिति ब्रूमः । नन्वेवमसंयतसम्यग्दृ-

ष्टेरपि संयतत्वप्रसंगो मनसः समत्वस्यैव संयमरूपत्वादिति चेत्, क एवमाह सर्वथा संयमस्याभावोऽसंयतसम्यग्दृष्टेरिति तस्यानंतानुबंधिकषायात्मनोऽसंयमस्याभावात् संयतत्वसिद्धेः। कथमस्यासंयतत्वमिति चेत्, मोहद्वादशकात्मनोऽसंयमस्य सद्भावाचत एवानंतानुबंध्यप्रत्याख्यानकषायात्मनोऽसंयमस्याभावात् प्रत्याख्यानसंज्वलनकषायात्मनोऽसंयमस्य सद्भावात्संयतासंयतसम्यग्दृष्टिः समभिधीयते। नन्वेवं प्रमत्तसंयतादि सूक्ष्मसाम्परायान्तः संयतासंयतः प्रसज्येत संज्वलनकषायात्मनो नोकषायात्मनश्चासंयमस्य सद्भावादिति चेत्, न, संज्वलनकषायादेरसंयमत्वेनाविवक्षितत्वादुदकराजिसमानत्वेन मोहद्वादशकाभावरूपसंयमाविरोधित्वात्परमसंयमानुकूलत्वाच्चेति कषायप्राभृतादवबोद्धव्यम्। यथा चासंयतसम्यग्दृष्टेः स्वानुरूपमनःसाम्यापेक्षया समं मनः सिद्धं तथा संयतासंयतस्य च नवविधस्येति न किंचिदसंभाव्यं ततोऽनेकान्तयुक्त्यनुशासनं न रागादिनिमित्तं तस्य मनःसमत्वनिमित्तत्वात्।

नन्वनेकान्तवादिनोऽप्यनेकान्ते रागात् सर्वथैकान्ते च द्वेषात् कथमिव समं मनः स्यात् यतो मोक्ष उपपद्यते? सर्वदा मनःसमत्वे वा न बंध इति स्वमताद्बाह्यौ बंधमोक्षौ स्यातां मनसः समत्वे चासमत्वे च तदनुपपत्तेरिति वदन्तं प्रत्याहुः—

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी

जिन! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः।

एकस्य नानात्मतयाज्ञवृत्ते-
स्तौ बंधमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥ ५३ ॥

टीका—प्रतिपक्षं प्रतिद्वंद्विनं दूषयति निराकरोत्येवंशीलः प्रतिपक्षदूषी प्रतिद्वन्द्विनिराकारी नित्यत्वैकान्तवादी क्षणिकाद्येकान्तवादी च। स प्रमुच्यते च प्रमुच्यत एवानेकांतवादिना न पुनस्तत्र द्वेषः क्रियते सामर्थ्यात्प्रतिपक्षस्वीकारी वाऽनेकांतवादी स्वीकृत एव न पुनस्तत्र रागः क्रियत इति चशब्दस्यैवकारार्थत्वाद् व्याख्यायते। कैः पुनर्हेतुभूतैरित्युच्यते—जिन! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः। किं रूपतयेत्यभिधीयते—एकस्य नानात्मतयेति स्यादेकमेव वस्तु स्यान्नानात्मेत्यादयः शब्दाः सिंहनादाः। सिंहनादा इव सिंहनादा इति समासः शब्दान्तरैर्न्यक्कर्तुमशक्यत्वात्। यथैव हि सिंहनादा कुंजरादिनादैर्न तिरस्कर्तुं शक्यन्ते तथा जिननाथस्य नादाः सम्यगनेकान्तप्रतिपादकाः क्षणिकाद्येकान्तप्रतिपादकैः सुगतादिशब्दैर्न कथंचिन्निराक्रियन्ते इत्युक्तं भवति। पटवश्चैते निःसंशयत्वात् सिंहनादाश्चाबाध्यत्वात् पटुसिंहनादास्तैरेव हेतुभूतैः प्रतिपक्षदूषी प्रमुच्यते व्यवच्छिद्यते युक्तिशास्त्राविरोधिभिः परमागमवाक्यैर्नानात्मकैकवस्तुनिश्चयस्यैव सर्वथैकान्तप्रमोचनस्य सिद्धेस्तत्र द्वेषासंभवादनेकान्तरागासंभववत्। न हि तत्त्वनिश्चय एव रागः क्षीणमोहस्यापि रागप्रसंगात्, नाप्यतत्त्वव्यवच्छेद एव द्वेषः शक्यः प्रतिपादयितुं यतोऽनेकांतवादिनः समं मनो न भवेत्, तन्निमित्तश्च मोक्षः कथं न स्यात्? न च सर्वथा सम-

त्वमेव मनसः सर्वत्र सर्वदोत्पद्यते यतो रागद्वेषाभावाद्बंधाभावः प्रसज्येत ? कथंचित् क्वचित् किंचित् कदाचित् गुणस्थानापेक्षया पुण्यबंधस्योपपत्तेस्ततस्तौ बंधमोक्षौ स्वमतादनंतात्मकतत्त्वविषयादबाह्यौ तत्रैव भावात् तयोर्ज्ञवृत्तेः। जानातीति ज्ञ आत्मा। ज्ञे वृत्तिर्ज्ञवृत्तिस्ततत इति प्रधाने नैकात्मन्यपि न तौ तस्याज्ञत्वादिति निवेदितं भवति।

स्यान्मतं, नैकस्य नानात्मनोऽर्थस्य प्रतिपादकाः शब्दाः पर्द्धसिंहनादाः प्रसिद्धाः सौगतानामन्यापोहसामान्यस्य वागास्पदत्वाद्वाचां वस्तुविषयत्वासंभवादिति। तदसदेव यस्मात्—

आत्मान्तराभावसमानता न
वागास्पदं स्वाश्रयभेदहीना।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरान्निरात्म ॥५४॥

टीका—गोः स्वभावादन्यः स्वभावः स्वभावान्तरमात्मान्तरमगवात्मा ? तस्याभावो व्यावृत्तिः स एव समानता सामान्यं, सा वाचामास्पदं न भवत्येव, कीदृशी सा न वागास्पदं, स्वाश्रयभेदहीना स्वस्या आत्मान्तराभावसमानताया आश्रयाः स्वाश्रयाः। स्वाश्रयास्ते च भेदाश्च, तैर्हीना अन्यापोहसामान्यविशेषवाक्शून्येति यावत्। कुतः सा न तादृशी वागास्पदमिति साध्यते ? भावस्य वस्तुनः सामान्यविशेषवत्त्वात्। ननु च सामान्यविशेषवत्त्वेऽपि भावस्य सामान्यस्यैव वागास्पदत्वं

युक्तं विशेषस्य तदात्मकत्वात्सामान्यविशेषयोरैक्यसिद्धिरिति वचने दूषणमुच्यते—ऐक्ये तयोः सामान्यविशेषयोरन्यतरत्सामान्यरूपं विशेषरूपं वा निरात्म स्यात्। तत्र विशेषरूपस्य निरात्मत्वे तदविनाभाविनः सामान्यरूपस्यापि निरात्मत्वापत्तेः सर्वं निरात्मकत्वं प्रसज्येत, सामान्यरूपस्य च निरात्मत्वे विशेषरूपस्यापि तदविनाभाविनो निरात्मत्वानुषंगान्न तयोरैक्यमभ्युपगन्तव्यम्।

ननु च सर्वगतं सामान्यं विशेषैरश्लिष्टमेव वागास्पदं, न पुनरात्मान्तरापोहसामान्यं तस्यावस्तुत्वादिति वदंतं प्रति वदन्ति—

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि, तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्।
वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न,
मानं च नानन्तसमाश्रयस्य॥ ५५॥

टीका—नियतदेशकालाकारतया न मीयत इत्यमेयं, सर्वव्यापि नित्यं निराकारं सत्त्वादिसामान्यं तदश्लिष्टं विशेषैरमेयमेवाप्रमेयमेव प्रमाणतः प्रमातुमशक्तेः। प्रत्यक्षतस्तत्प्रमितिरप्रसिद्धा तत्र तदप्रतिभासनात् ब्रह्मवत्। नाप्यनुमानतस्तत्प्रमीयते तदविनाभाविलिंगाभावात्। सत्सदित्याद्यनुवृत्तिप्रत्ययो लिंगमिति चेत् न, असदसदित्याद्यनुवृत्तिप्रत्ययेन व्यभिचारात्, तस्यासत्त्वसामान्याभावेऽपि भावात् पदार्थत्वसामान्याभा-

वेऽपि षट्सु पदार्थेषु पदार्थः पदार्थ इत्यनुवृत्तिप्रत्ययस्य सिद्धेः। स्यादाकूतं, प्रागसदादिष्वसदसदित्यनुवृत्तिप्रत्ययेन न व्यभिचारस्तस्य मिथ्यात्वात् न हि सम्यगनुवृत्तिप्रत्ययस्य मिथ्यात्वानुवृत्तिप्रत्ययेन व्यभिचारो युक्तोऽतिप्रसंगादिति। तदप्यसम्यक्, तस्य मिथ्यात्वासिद्धेः। प्रागसदादिषु मिथ्यैवासदित्यनुवृत्तिप्रत्ययो बाधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्बाधकं ? प्रागभावादयो न सामान्यवंतो द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यत्वात् सामान्यविशेषसमवायवदित्यनुमानं तद्बाधकं। तद्विषयस्य सामान्यस्य तेन निराकरणादिति चेत्, न, अस्यानुमानस्य साध्याविनाभावनियमनिश्चयासत्त्वात्। यस्तु सामान्यवान्न स द्रव्यगुणकर्मभ्योऽन्यो यथाऽयमर्थ इति व्यतिरेकाश्रयासिद्धिः। स्यान्मतिरेषा द्रव्यादिपदार्थत्वेन सामान्यवत्त्वं व्याप्तं विनिश्चितस्य प्रागभावादिषु द्रव्यगुणकर्मपदार्थत्वस्य व्यापकत्वस्याभावात् तद्व्याप्यस्य सामान्यत्वस्याभावः साध्यते ततो नाविनाभावनियमोऽसिद्ध इति, साऽपि न साध्वी द्रव्यादिपदार्थत्वेन सामान्यवत्त्वस्य व्याप्त्यसिद्धेस्तेषामपि सामान्यशून्यत्वात्। तथा हि—सामान्यशून्यानि द्रव्यगुणकर्माणि तत्त्वात्मकत्वात् प्रागभावादिवत्। नेह साधनशून्यो दृष्टान्तः प्रागभावादेरसद्वर्गस्य तत्त्वरूपत्वाभ्यनुज्ञानात् सदसद्वर्गस्तत्त्वमिति वचनात् तस्यातत्त्वरूपत्वे सर्वत्रासत्प्रत्ययस्य मिथ्यात्वापत्तेरनाद्यनंतसर्वात्मतत्त्वानुषंगात्। तथा चोक्तम्—

"कार्यद्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निह्नवे ।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनंततां व्रजेत् ॥
सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा ॥" इति।

द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवंति मुख्यसद्वर्गत्वात्, यैः तु न सामान्यवंतस्ते न मुख्यसद्वर्गा यथा सामान्यविशेषसमवाया इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन प्रतिपक्षेण सत्प्रतिपक्षत्वात् सामान्यवत्त्वाभावसाधनस्य तत्त्वात्मकत्वादित्येतस्य हेतोर्न गमकत्वमिति चेत्, नाऽस्य प्रतिपक्षानुमानस्य प्रत्यक्षबाधितविषयतया कालात्ययापदिष्टत्वात्। नहि प्रत्यक्षबुद्धौ द्रव्यादिषु सामान्यमेकं पदार्थान्तरं प्रतिभासते समानानि द्रव्याणीमानि गुणा वा कर्माणि वेति प्रतिभासनात्सदृशपरिणामस्यैव प्रतीतेस्तदयमनुवृत्तिप्रत्ययस्तदेवेदमित्याकारोऽसिद्ध एवेति। न सामान्ये लिंगं यतः सामान्यमनुमानतो मेयं स्यात्। तत एव नागमतो मेयं युक्त्यननुगृहीतस्यागमस्याप्रमाणत्वादन्यथाऽतिप्रसंगात्। न चोपमानतो मेयं सामान्यसदृशस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवादिति न सामान्यं तद्वतो भिन्नमनियतदेशकालाकारं प्रमेयमवतिष्ठते। तथा भेदेप्यभ्युपगम्यमाने सामान्यस्य स्वाश्रयेभ्यो न तत्प्रमेयं तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्। तेषु द्रव्यादिषु वृत्तिस्तद्वृत्तिस्तस्या अपवृत्तिर्व्यावृत्तिस्तस्या भावः सद्भावस्तस्मात् तद्वृत्त्यपवृत्तिभावान्न सामान्यं प्रमेयं भेदेऽपीत्यर्थः। सामान्यस्य स्वाश्रयेषु वृत्तिर्न तावत्संयोगः कुंडे बदरवत्संभवति तस्याद्रव्यत्वात्

संयोगानाश्रयत्वात्, संयोगस्य द्रव्यनिष्ठत्वात् । नाऽपि समवायो वृत्तिस्तस्यायुतसिद्धिविषयत्वात्, न च सामान्यतद्वतोरयुतसिद्धिः संभवति। सा हि शास्त्रीया वा स्याल्लौकिकी वा? न तावत् शास्त्रीया तयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वेन युतसिद्धेरेव संभवात्, पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिरिति वचनात् । यथैव हि कुंडे परमाणुरित्यत्र परमाणोः पृथग्भूतेषु कुंडावयवेषु स्वाश्रयेषु कुंडस्याश्रयित्वं पृथगाश्रयित्वं तथा सामान्यात्पृथग्भूतेषु स्वाश्रयेषु द्रव्यादेराश्रयित्वं पृथगाश्रयित्वं युतसिद्धिलक्षणं विद्यत एव। यदि पुनः कुंडस्य स्वाश्रयेषु स्वावयवेषु वदरस्य च स्वावयवेष्वाश्रयेष्वाश्रयित्वमिति कुंडवदरयोः पृथगाश्रयाश्रयित्वं पृथगाश्रययोराश्रयणौ पृथगाश्रयणौ तयोर्भावः पृथगाश्रयाश्रयित्वं चतुराश्रयमेवाभिधीयते तदा कथमिह कुंडे परमाणुरिति परमाणुकुंडयोर्युतसिद्धिः स्यात्तल्लक्षणाभावात् । अथ मतमेतत्, न परमाणोः कुंडे वृत्तिस्तस्य निरवयवत्वादाकाशादिवत् । तदप्यसारं, भवदभ्युपगतस्य सामान्यस्य निरवयविनो गुणादेश्च क्वचिद् वृत्त्यभावप्रसंगान्निरंशत्वाविशेषात, परमाणुकुंडयोर्युतसिद्ध्यभावे चायुतसिद्धिप्रसंगात्संयोगविरोधात्समवायप्रसंगो दुर्निवार इति तयोः संयोगमिच्छता पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिलक्षणं द्व्याश्रयमपि प्रतिपत्तव्यं। नित्यानां च पृथग्गतिमत्त्वमिति लक्षणांतरस्यासंभवादात्माकाशादीनामयुतसिद्धिप्रसंगात्तद्वत्सामान्यतद्वतोरपि तत्सिद्धमिति न शास्त्रीयाऽयुतसिद्धिः। नाऽपि लौकिकी देशकालाभेदलक्षणा दुग्धांभसोर-

प्ययुतसिद्धिप्रसंगात् ततो न सामान्यस्य द्रव्यादिषु वृत्तिः संभवति । 'वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न' वृत्तिरभ्युपगम्यमानापि सामान्यस्य तद्वस्तुनेति संबंधः, चशब्दस्यापि शब्दार्थत्वात् । तथा हि—कृत्स्नविकल्पे वृत्तिः स्यादंशविकल्पे वा ? न तावत् कृत्स्नविकल्पे कृत्स्नस्य सामान्यस्य देशकालाकारभिन्नासु व्यक्तिषु सकृद्वृत्तिः साधयितुं शक्या सामान्यबहुत्वप्रसंगात् तस्यैकस्यानंशस्य तदयोगात्, सामान्यं युगपद्भिन्नदेशकालव्यक्तिसंबंधि सर्वगतनित्यामूर्तत्वादाकाशवदित्यनुमानमपि न सम्यक् । साधनस्येष्टविघातकारित्वात् । यथैव ह्ययं हेतुः सामान्यस्य युगपद्भिन्नदेशकालव्यक्तिसंबंधित्वं साधयति तथा सांशत्वमपि व्योमवदेव, निरंशे सकृत्सर्वगतत्वविरोधादेकपरमाणुवत् । ननु निरंशमेवाकाशमकार्यद्रव्यत्वात्परमाणुवत्, यत्तु सांशं तत्कार्यद्रव्यं दृष्टं यथा पटादिकमकार्यद्रव्यं चाकाशं तस्मान्निरंशमेव तद्वत्सामान्यमिति नेष्टविघातकारी हेतुः सर्वगतत्वादि स्वेष्टसाध्यसाधनत्वादिति चेत्, किमनेनाकार्यद्रव्यत्वेनारंभकाभावान्निरंशत्वं साध्यते, स्वात्मभूतप्रदेशाभावाद्वा ? प्रथमविकल्पे सिद्धसाध्यता स्यादाकाशस्यारंभकावयवानभ्युपगमात् निरवयवत्वसिद्धेः । द्वितीयविकल्पे तु साध्यशून्यो दृष्टांतः परमाणोरपि स्वात्मभूतेनैकेन प्रदेशेन सांशत्वव्यवस्थितेः । स्याद्वादिनां मते साधनशून्यश्च दृष्टांतः परमाणोरकार्यद्रव्यत्वासिद्धेः ।

स्यान्मतं तेऽकार्यद्रव्यं परमाणुरारंभकरहितत्वादाकाशव-

दिति। तदप्यतथ्यं हेतोरसिद्धत्वात्। आरंभकरहितत्वं हि यद्युत्पादककारणरहितत्वं हेतुस्तदा परमाणोर्द्व्यणुकविनाशादुत्पत्तिः कथं सिध्येत्? द्व्यणुकविनाशो न परमाणोरुत्पादकः संभवति द्व्यणुकोत्पादात्पूर्वमपि सद्भावात्। कालादिवदिति चेत् न, तस्य द्व्यणुकोत्पादे विनाशादविनाशे तु द्व्यणुकादिकालेऽपि प्रतीतिप्रसंगात्। तथा च घटप्रतीतिकालेऽपि घटारंभकपरमाणूपलब्धिः कथं वार्येत?

स्यान्मतं—पटप्रतीतौ तदारंभकास्तंतवः प्रतीयन्त एव साक्षात्परंपरया तु तदारंभकाः परमाणवोऽस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वान्न प्रतीयन्तेऽस्मदादिभिरनध्यक्षतस्तेषामनुमेयत्वात्। तथा हि द्व्यणुकावयवि द्रव्यं स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धं कार्यद्रव्यत्वात्पटादिवत् यद् द्व्यणुकपरिमाणकारणं तौ परमाणू समनुमीयेते। परमाणोः कारणस्यासंभवान्न तदारंभकत्वं संभाव्यते यतस्तस्य कार्यद्रव्यत्वं स्यात्ततो नाकाशादेरनंशत्वे साध्ये परमाणुवदिति दृष्टांतः साधनशून्य इति। तदेतदपि स्वदर्शनरुचिप्रकाशनमात्रं, परमाणोरप्यनुमानात्कार्यद्रव्यत्वसिद्धेः। तथा हि--परमाणवः स्वपरिमाणान्महापरिमाणावयविस्कंधविनाशकारणकास्तद्भावभावित्वात् कुंभविनाशपूर्वककपालवत् यद्विनाशात्परमाणवः प्रादुर्भवंति तत् द्व्यणुकादि द्रव्यमित्यनुमानसिद्धं परमाणोः कार्यद्रव्यत्वं ततः साधनशून्यमेवोदाहरणं। न च परमाणूनां स्कन्धविभेदनभावभावित्वमसिद्धं द्व्यणुकादिविनाशस्य भावे सद्भावाभ्युपगमात्। सर्वदा स्वतंत्रपरमा-

णूनां स्कन्धभेदमन्तरेणाभावादसिद्धो व्यतिरेकस्ततस्तद्भाव एव भवनशीलत्वाभावादसिद्धं साधनमिति चेत्, न, सदा स्वतंत्रपरमाणूनामसंभवात्। तथाहि—विवादापन्नाः परमाणवः स्कंधभेदपूर्वकाः परमाणुत्वात् द्व्यणुकादिभेदपूर्वकपरमाणुवदिति न ते सर्वदा स्वतंत्रास्ततस्तद्भावभावित्वं साधनं सिद्धमेव। एतेन कपालानां कुंभभेदकारणत्वं साधितं तद्भावभावित्वाविशेषात्। ननु च पटभेदपूर्वकाणां केषांचित्तन्तूनामुपलंभात्तद्भावे भावस्य प्रसिद्धावपि परेषां पटपूर्वकालभाविनां पटभेदाभावेऽपि भावान्न तद्भाव एव भावः सिध्येदिति चेत् न, तेषामपि कार्पासप्रवेणीभेदपूर्वकत्वेनोपालंभात्स्कंधभेदपूर्वकत्वसिद्धेः। स्यान्मतं, महापरिमाणप्रशिथिलावयवकार्पासपिंडसंघातपूर्वकस्याल्पपरिमाणघनावयवकार्पासपिंडस्य स्कंधभेदमन्तरेण भावात् कथं परमाणूनां स्कंधभेदपूर्वकत्वसिद्धिरिति। तदप्यसत्, परमाणूनामेव स्कंधभेदपूर्वकत्वनियमसाधनात्, परेषां स्कंधानां स्कंधान्तरसंघातपूर्वकत्वस्याऽपि प्रसिद्धेः, यद्धि यद्भावभाव्येव प्रसिद्धं तत्कारणमिति स्याद्वादिनां मतं, ततो ये स्कंधभेदभावभाविन एव ते स्कंधभेदपूर्वका एव यथा परमाणवो 'भेदादणु'रिति वचनात्। ये तु संघातभावभाविन एव ते संघातपूर्वका एव यथा घनः कार्पासपिंड इति सर्वमनवद्यं परमाणोरपि कार्यद्रव्यत्वसिद्धेः। तदेवमाकाशमनंशमकार्यद्रव्यत्वात्परमाणुवदित्यनुमानं न साध्यसिद्धिनिबंधनमुदाहरणस्य साधनविकलत्वाद्धेतोश्चासिद्धत्वात् पर्या-

त्यार्यदेशादाकाशस्यापि कार्यद्रव्यत्वसिद्धेः स्याद्वादिनां सर्वथा नित्यस्य कस्यचिदर्थस्याभावात् । खस्यानंशत्वाप्रसिद्धौ चानंशं सामान्यं सर्वगतत्वादाकाशवदित्यत्र साध्यशून्यत्वादुदाहरणस्य नातः सामान्यस्य निरंशत्वसिद्धिः। सर्वगतत्वादित्यस्य हेतोरसिद्धत्वाच्च न हि सामान्यं सर्वं सर्वगतं प्रमाणतः सिद्धं । सत्तामहासामान्यं सर्वं सर्वगतं सिद्धमेव सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वादिति चेत् न, तस्यानंतव्यक्तिसमाश्रयस्यैकस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । तदेवाहुः सूरयः—

"मानं च नानंतसमाश्रयस्य" इति ।

न ह्यनंतसद्व्यक्तिग्रहणमन्तरेण तत्र सकृत् सदितिप्रत्ययस्योत्पत्तिरसर्वविदां संभवति यतः सर्वत्र सत्प्रत्ययहेतुत्वं सिद्ध्येत् । तदसिद्धौ च न तदनुमानं प्रमाणं सामान्यस्यानंतसमाश्रयस्यास्तीति न कृत्स्नविकल्पतो वृत्तिः सामान्यस्य सामान्यबहुत्वप्रसंगादिति स्थितं । एतेन व्यक्तिसर्वगतं सामान्यं कृत्स्नतः स्वाश्रयेषु प्रवर्त्तेत इति वदन्नपि निरस्तः तस्याप्यनंतव्यक्तिसमाश्रयस्य मानाभावाविशेषात् । एतेन देशतः सामान्यस्य स्वाश्रयेषु वृत्तिरित्यपि विकल्पो दूषितः, देशतोऽनंतेषु स्वाश्रयेषु युगपत्सामान्यस्य वृत्तिरित्यत्र प्रमाणाभावात्, ततोऽस्मिन्नपि पक्षे "मानं च नानंतसमाश्रयस्य" इति संबंधनीयं । सप्रदेशत्वप्रसंगाच्च सामान्यस्य न चैवमभ्युपगन्तुं युक्तं स्वसिद्धान्तविरोधात् तस्य निरंशत्ववचनात् । ततो नैकं सामान्यमप्रमेयरूपं कुतश्चित्प्रमाणात्सिद्धं यतस्तदमेयमेव न स्यात् ।

संप्रति सामान्यमनंतसमाश्रयमप्रमाणकमवस्थाप्य पक्षांतरमनूद्य दूषयंति—

नानासदेकात्मसमाश्रयं चे-
दन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चे-
त्तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥ ५६ ॥

टीका— नाना च तानि संति च नानासंति विविधद्रव्यगुणकर्माणि तेषां नानासतामेकात्मा सदात्मा वा द्रव्यात्मा वा गुणात्मा वा कर्मात्मा वा स एवाश्रयो यस्य सामान्यस्य तन्नानासदेकात्मसमाश्रयं । एको हि सदात्मा समाश्रयः सत्तासामान्यस्य स चैकसद्व्यक्तिप्रतिभासकाले प्रमाणतः प्रतीयत एव तदन्यद्वितीयादिसद्व्यक्तिप्रतिपत्तिकालेऽपि स एवाभिव्यक्ततामियर्तीति तन्मात्राश्रयस्य सामान्यस्य प्रमाणं ग्रहणनिमित्तमस्त्येव तस्यानंतस्वभावसमाश्रयस्यैव मानं नास्तीति व्यवस्थितेः। तथैको द्रव्यात्मा समाश्रयो द्रव्यत्वसामान्यस्य, गुणात्मा गुणत्वसामान्यस्य, कर्मात्मा कर्मत्वसामान्यस्येति, तस्यैकां द्रव्यव्यक्तिं द्वितीयां च प्रतीयन् द्रव्यस्वभावमेकमेव प्रत्येति तत्समाश्रयं च द्रव्यत्वसामान्यमिति सदात्मा समाश्रयः, न तस्यामानता, एवं गुणव्यक्तीः कर्मव्यक्तीर्वा द्वित्राः पश्यन् गुणस्वभावं कर्मस्वभावं च पश्यतीति गुणैकात्मसमाश्रयं कर्मैकात्मसमाश्रयं वा गुणत्वसामान्यं कर्मत्वसा-

मान्यं वा प्रत्येतुं प्रमाणतः शक्नोतीति न तस्याप्रमाणता शक्या समापादयितुमनंतसमाश्रयस्यैव सामान्यस्य मानताऽघटनादिति यदि मन्यन्ते सामान्यवादिनस्तदैवं प्रष्टव्याः-किमेतत्सामान्यं स्वव्यक्तिभ्योऽन्यदनन्यद्वा ? न तावदन्यत्वमस्य सदेकस्वभावाश्रयसामान्यस्य स्वव्यक्तिभ्यो भेदे तासामसदात्मकत्वप्रसंगात्प्रागभावादिवत्, व्यक्तेरसदात्मकत्वे च सत्सामान्यस्याप्यसदात्मकत्वापत्तिरसद्व्यक्तित्वादभावमात्रवत् । ततश्चानात्मनोर्व्यक्तिसामान्ययोरन्यत्वं क स्यान्नैव स्यादित्यर्थः । तदद्विष्ठमिह प्रसिद्धं द्वयोरभावे पुनरद्विष्ठमन्यत्वं क्वेति संबंधनीयं एवं द्रव्यव्यक्तेर्द्रव्यैकात्मसमाश्रयस्य द्रव्यत्वसामान्यस्य भेदेऽप्यद्रव्यत्वप्रसंगो गुणादिवत् । तदद्रव्यत्वे च द्रव्यत्वसामान्यस्यानात्मत्वापत्तिरित्यनात्मनोर्द्रव्यव्यक्तिद्रव्यत्वसामान्ययोरन्यत्वं क स्यात् ? तस्याद्विष्ठत्वेन च द्वयोरभावे क्वाद्विष्ठमन्यत्वमिति घटनीयं । तथा गुणत्वसामान्यस्य कर्मत्वसामान्यस्य चैकगुणात्मसमाश्रयस्यैककर्मात्मसमाश्रयस्य च गुणव्यक्तेः कर्मव्यक्तेर्वा भेदे गुणव्यक्तेरगुणत्वप्रसंगः कर्मव्यक्तेश्चाकर्मत्वप्रसंगस्तदनात्मकत्वे च गुणत्वसामान्यस्य कर्मत्वसामान्यस्य चाऽनात्मकत्वापत्तिरित्यनात्मनोर्गुणव्यक्तिगुणत्वसामान्ययोः कर्मव्यक्तिकर्मत्वसामान्ययोश्चान्यत्वं क स्यात् ? द्वयोरभावे चाद्विष्ठमन्यत्वं क्वेति प्रतिपत्तव्यं ततो नान्यत्सामान्यं स्वव्यक्तिभ्यो व्यवतिष्ठते । नाऽप्यनन्यत्, सामान्यस्य व्यक्तौ प्रवेशे व्यक्तिरेव स्यान्न च सामान्याभावे सा संभवतीत्यनात्मा स्यात्तदनात्मत्वे

सामान्यस्याप्यनात्मत्वमित्यनात्मनोर्व्यक्तिसामान्ययोरनन्यत्वं क्वेति योजनीयं। न च तद्द्विष्ठमनन्यत्वमस्तीति कानन्यत्वं? एतेनोभयमपि निरस्तमुभयदोषानुषंगात्। ननु च वस्तुभूतस्य सामान्यस्यानभ्युपगमादवस्तुन एव सामान्यस्यान्यापोहलक्षणस्येष्टत्वात्तस्य चान्यत्वानन्यत्वादिविकल्पशून्यत्वं खरविषाणवदिति चेत्, तर्हि तस्मिन्नवस्तुनि सामान्ये क्व खलु प्रमाणं संप्रवर्त्तेत नैव किंचित्प्रमाणं स्यात् तस्याप्रमेयत्वादन्यापोहस्य सर्वप्रमाणातिक्रान्तत्वात्। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षमवस्तुनि प्रवर्त्तते तस्य वस्तुविषयत्वात्। नाप्यनुमानं लिंगाभावात्। न हि तत्र स्वभावलिंगं निःस्वभावस्यावस्तुनः स्वभावविरोधात्, स्वभावस्य कस्यचित्सद्भावे वस्तुत्वप्रसंगात्। नाऽपि कार्यलिंगं सकलकार्यशून्यत्वादवस्तुनः, कस्यचित्कार्यस्य भावे तस्यावस्तुत्वविरोधात्। तत्रानुपलंभो लिंगमिति चेत्, सोऽपि क्वचिदग्नौ तदन्यस्यानग्नेरभावो ह्यन्यापोहः सामान्यं, तस्य चानग्नेः कस्यचिदेवोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य जलादेरनुपलंभः स्यात्सर्वस्य वा? प्रथमविकल्पे न सर्वस्मादनग्नेरपोहः सिध्येत्। द्वितीयविकल्पे देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्य द्वीपान्तररावणपरमाण्वादेरनग्नेरनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलंभः कथमभावं क्वचिदग्नौ साधयेदभावव्यवहारं वा स्वाभ्युपगमविरोधादिति, नावस्तु सामान्यं केनचित्प्रमाणेन मेयं, तस्मिंश्चामेये क्व खलु प्रमाणं प्रवर्त्तते पराभ्युपगतवस्तुभूतसामान्यवदिति न किंचित् सामान्यं परेषां व्यवतिष्ठते प्रमाणाभावात्।

ननु चानुवृत्तिप्रत्ययलिंगं सामान्यं कथमप्रमाणमित्यपरे। अतद्व्यावृत्तिप्रत्ययसाध्यमन्यापोहसामान्यमित्यन्ये। स्वस्वसंवेदनमात्रं साध्यं सन्मात्रं शरीरं ब्रह्मेति केचित् संप्रतिपद्यन्ते, तान् प्रति प्राहुराचार्याः—

व्यावृत्तिहीनान्वयतो न सिद्ध्ये-
द्विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम्।
अतद्व्युदासाभिनिवेशवादः
पराभ्युपेतार्थविरोधवादः ॥ ५७ ॥

टीका—येषां तावत्–द्विविधं सामान्यं परमपरं चेति तेषां च न परं सामान्यं सत्ताख्यं साध्यं सदित्यन्वयादसद्व्यावृत्तिहीनादेव सिद्ध्येत् सदसतोः संकरेण सिद्धिप्रसंगात्। सदन्वय एवासद्व्यावृत्तिरित्ययुक्तमनुवृत्तिव्यावृत्त्योर्भावाभावस्वभावयोर्भेदाभ्युपगमात्। सामर्थ्यात्सदन्वयेऽसद्व्यावृत्तिः सिद्ध्येदिति चेत्, तर्हि न व्यावृत्तिहीनादन्वयतः साध्यं सिध्येत्। एतेनापरं सामान्यं द्रव्यत्वादि द्रव्यमित्याद्यन्वयादद्रव्यादिव्यावृत्तिहीनान्न सिध्येदिति निवेदितं, सामर्थ्यसिद्धादद्रव्यादिव्यावृत्तिसहितादेव द्रव्याद्यन्वयात् द्रव्यत्वादिसामान्यस्य सिद्धेः तत एव तस्य सामान्यविशेषाख्यत्वव्यवस्थापनात्। येऽपि केषांचिद्विपर्यये तद्व्यावृत्तेरेवान्वयहीनायाः सामान्यं प्रतीयन्त इति तस्मिन्विपर्ययेऽपि साध्यं न सिद्ध्येत् सर्वथान्वयरहितादतद्व्यावृत्तिप्रत्ययादन्यापोहसिद्धावपि तद्विधेरसिद्धेस्तत्र प्रवृ-

त्तिविरोधात् तदर्थक्रियालक्षणस्य साध्यस्य सिद्ध्यभावात्। दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायात् प्रवृत्तौ साध्यं सिद्ध्यतीति चेत्, न, तदेकत्वाध्यवसायस्यासंभवात्, न हि दर्शनं तदेकत्वमध्यवस्यति तस्य विकल्पाविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविविकल्पस्तस्य दृश्याविषयत्वान्न चोभयविषयं ज्ञानान्तरमेकं संभवति यतस्तदेकत्वाध्यवसायात् व्यावृत्तिमात्रादन्वयहीनादन्यापोहसामान्यं सिद्ध्येत्। स्वलक्षणेऽपीति न साध्यसिद्धिः। तथान्वयव्यावृत्तिहीनादद्वितयादेव सन्मात्रप्रतिभासात्सत्ताद्वैतसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, सर्वथाऽप्यद्वितये साध्यसाधनयोर्भेदासिद्धौ कुतः साधनात्साध्यं सिद्ध्येदसिद्धौ चाद्वितयविरोधात्। यदि पुनरद्वितयेऽपि संविन्मात्रेऽसाधनव्यावृत्त्या साधनमसाध्यव्यावृत्त्या च साध्यमित्यतद्व्युदासाभिनिवेशवादः समाश्रीयते, तदाऽपि पराभ्युपेतार्थविरोधवादः सौगतस्य स्यात्। पराभ्युपगतो हि संविदद्वैतलक्षणोऽर्थस्ताथागतैः स चातद्व्युदासाभिनिवेशवादेनातद्व्यावृत्तिमात्राग्रहवचनरूपेण विरुध्यते कस्यचिदसाधनस्यासाध्यस्य चार्थाभावे तदव्यावृत्त्या साध्यसाधनव्यवहारानुपपत्तेर्भावे च द्वैतसिद्धेरप्रतिक्षेपार्हत्वादिति सौगतानां पूर्वाभ्युपेतार्थविरोधवादः प्रसज्येत।

यदि तु साधनमनात्मकमेव न वास्तवं सौगतैरभ्युपेयते नाऽपि साध्यं तस्य संवृत्या कल्पिताकारत्वात्ततो न पराभ्युपेतार्थविरोधवादः स्यादिति निगद्यते। तदा दूषणमावेदयन्ति—

अनात्मनानात्मगतेरयुक्तिः,

इति। अनात्मना निःस्वभावेन सांवृतेनासाधनव्यावृत्तिमात्ररूपेण साधनेन साध्यस्यापि तथाविधस्यानात्मनो या गतिः प्रतिपत्तिस्तस्याः सर्वथाप्ययुक्तिरयोग एव।
अत्र परिहारमाशंक्य निराकुर्वन्ति—

वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः,

इति। वस्तुनि संविदद्वैतरूपे साधनेनानात्मना साध्यस्यानात्मनो गतेरयुक्तेः पक्षसिद्धेरेवं संविदद्वैतवादिनः साध्यसाधनभावशून्यस्य संवेदनमात्रस्य पक्षत्वात्सिद्धं नस्तत्त्वमिति यदि मन्यते परस्तदाप्यवस्तुनि विकल्पिताकारे साध्यसाधनयोरयुक्तेः प्रतिपक्षस्य द्वैतस्य सिद्धिः स्यात्। न ह्यवस्तु साधनं साधयति साध्यमद्वैततत्त्वमतिप्रसंगात्।

साधनाद्विना स्वत एव संविदद्वैतसाध्यसिद्धिरिति परमतमपाकुर्वन्ति—

न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः ॥५८॥

साधनेन रिक्ता शून्या सिद्धिः स्वयं संविदद्वैतस्य न युज्यते, पुरुषाद्वैतस्यापि स्वयं सिद्धिप्रसंगात् कस्यचित्तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसंगाच्च।

तदेवम्—

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयानभिज्ञैः ।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने ! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः ॥ ५१ ॥

टीका—परपक्षदूषणप्रधानैर्वैतण्डिकैः संवेदनाद्वैतवादिभिर्यैः कुसृतिः कुत्सिता गतिः प्रतीतिः प्रणीता । मुने ! भगवन् ! भवतः शासनस्य स्याद्वादस्य दृशि प्रमूढैस्तैः स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयस्यानभिज्ञैर्निर्भेदभयमजानद्भिः परघ्नः परशुर्निशायित इति वाक्यार्थघटना । यथैव हि कैश्चित्परशुः परघाताय निशायितः स्वमूर्ध्नि भेदाय च प्रवर्त्तत इति तद्भयानभिज्ञास्ते, तथैव वैतण्डिकैः परपक्षनिराकरणायमानैः प्रणीयमानो न्यायः स्वपक्षमपि निराकरोतीति तेऽपि स्वपक्षघातभयानभिज्ञा एव । ते हि स्याद्वादन्यायनायकस्य गुरोः शासनदृक्प्रमूढाः किं जानंते दर्शनमोहोदयाक्रान्तान्तःकरणत्वादिति विस्तरतस्तत्त्वार्थालङ्कारे प्रतिपत्तव्यं ।

ननु च यदुक्तं "न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः" इति । तत्र, संविदद्वैतस्यापि सिद्धिर्मा भूत्सर्वाभावस्य शून्यतालक्षणस्य विचारबलादागतस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादिति केचिदाचक्षते तान्प्रत्याहुः—

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते ।

प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थांगममेयमन्यत् ॥६०॥

टीका—न हि वहिरन्तश्च वस्तुनोऽसंभवे तदभावः सर्वशून्यतालक्षणः संभवति तस्य वस्तुधर्मत्वात्, स्वधर्मिणोऽसंभवे कस्यचिद्धर्मस्याप्रतीतेः। स ह्यभावः स्वरूपेण भवति न वा ? भवति चेदभावेऽपि वस्तुधर्मसिद्धेः कस्यचिद्धर्मस्याभावे धर्मान्तरमेव स च कथं वस्तुधर्मो न सिद्ध्येत्। न भवति चेदभाव एव न स्यादभावस्याभावे भावस्य विधानात्। अथ धर्मिणोऽभावस्तदा भावान्तरं स्याद्भाववत् कुंभस्याभावो हि भूभागो भावान्तरमेवार्हतो भगवतस्ते, न पुनस्तुच्छः सकलशक्तिविरहलक्षणो यौगस्येवेति प्रत्येतव्यं। कुत एतत् ? यस्मात्प्रमीयते चाभावो व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थांगं च निगद्यते। अभावो हि धर्मस्य धर्मिणो वा यदि कुतश्चित्प्रमाणान्न प्रमीयते तदा कथं व्यवतिष्ठते ? प्रमीयते चेत्, तदा स च वस्तुधर्मो भावान्तरं वा धर्मधर्मिस्वभावभाववत्। तथा यद्यभावो न व्यपदिश्यते तदा कथं प्रतिपद्यते ? व्यपदिश्यते चेत्, वस्तुधर्मो वस्त्वंतरं वा स्यादन्यथा व्यपदेशानुपपत्तेः, तथा वस्तुनो घटादेर्व्यवस्थायामंगमभावोऽनंगं वा। यद्यनंग, किं तत्परिकल्पनया। घटे पटादेरभाव इति पटादिपरिहारेण (तु) घटव्यवस्थाकारणमभावः परिकल्प्यतेऽन्यथा वस्तुसंकरप्रसंगादिति वस्तुव्यवस्थांगमभावोऽभ्युपगन्तव्यः। ततो वस्तु धर्म एवाभावो वस्तुव्यवस्थांगत्वाद्भाव-

वत्। ननु च यथा प्रमाणं प्रमेयव्यवस्थांगमपि न प्रमेयधर्म-स्तथा वस्तुव्यवस्थांगमप्यभावो न वस्तुधर्मः स्यात्, यो यद्व्य-वस्थांगं स तद्धर्म इति नियमाभावात्, व्यभिचारदर्शनात्, न ह्यभावव्यवस्थांगं घटादिर्भाव इति तस्याभावधर्मत्वं प्रतीये-तेति कश्चित्। सोऽप्यनालोचितवचनः, प्रमाणस्यापि प्रमेय-धर्मत्वाविरोधात्। प्रमाणं हि ज्ञानमविसंवादकमिष्यते तच्च प्रमेयस्यात्मनो धर्मः करणसाधनतापेक्षायां प्रतीयते, एवं प्र-मितिः प्रमाणमिति भावसाधनापेक्षायां तु प्रमाणस्यात्मार्थस्य धर्मत्वमपीति सिद्धं प्रमेयधर्मत्वमात्मनः प्रमितिरर्थस्य प्रमिति-रिति संप्रत्ययात्। तथा घटादेर्भावस्याभावधर्मत्वमपि न विरुद्ध्यते, मृदो घट इति यथा मृद्धर्मो घट इति तथा सुवर्णाद्य-भावस्य मृदो धर्म इत्यपि प्रयुज्यत एव सुवर्णाद्यभावस्यासुव-र्णमृदादिस्वरूपत्वात्ततो न व्यभिचारः। किं च हेतोर्विपक्षे का-र्त्स्न्येनाभावो हेतुधर्म इति स्वयमिच्छन्कथं हेतुलक्षणवस्तुव्य-वस्थांगस्याभावस्य हेतुरूपवस्तुधर्मत्वं नेच्छेत्। यत्तु न वस्तु व्यवस्थांगमभावतत्त्वं तदमेयमेव भावैकान्ततत्त्ववत्।

तदेवं परपरिकल्पितं सामान्यं वस्तुरूपमरूपं वा यथा न वाक्यार्थस्तथा व्यक्तिमात्रं परस्परनिरपेक्षमुभयं वा न वा-क्यार्थः समवतिष्ठते तस्यामेयत्वात्सकलप्रमाणगोचरातिक्रां-तत्वात्।

किं तर्हि वाक्यमभिदधातीति सूरिभिरवस्थाप्यते।—

विशेषसामान्यविषक्तभेद-

विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम्।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६१॥

टीका—विसदृशपरिणामो विशेषः सदृशपरिणामः सामान्यं। ताभ्यां विषक्ताश्च ते च ते भेदाश्च द्रव्यपर्यायव्यक्तिरूपास्तेषां विधिव्यवच्छेदौ तद्विधायि वाक्यमिति घटना। तत्र घटमानयेति वाक्यं नाघटानयनव्यवच्छेदमात्रविधायीति घटानयनविधेरपि तेनाभिधानात्, अन्यथा तद्विधानाय वाक्यान्तरप्रयोगप्रसंगात्, तस्याप्यतद्व्यवच्छेदविधायित्वे तद्विधानायापरवाक्यप्रयोग इत्यनवस्थानुषंगात् न कदाचिद्घटानयनविधिप्रतिपत्तिः स्यादिति प्रधानभावेन व्यवच्छेदविधाय्यपि वाक्यं गुणभावेन विधिविधायि प्रतिपत्तव्यं। विधिमात्रविधाय्येव वाक्यमित्यप्ययुक्तं तदन्यव्यवच्छेदेन विना विधिप्रतिपत्तेरयोगात्, तदितरव्यवच्छेदाय वाक्यान्तरप्रयोगापत्तेस्तस्यापि तद्विधिमात्रविधायित्वेऽतद्व्यवच्छेदाय वाक्यान्तरप्रयोगादनवस्थितिप्रसंगात्, ततः प्रधानभावेन विधिप्रतिपादकं वाक्यं गुणभावेन व्यवच्छेदविधायि प्रतिपादनीयं।

जातेरेव विधिव्यवच्छेदोभयं प्रधानगुणभावेन वाक्यमभिधत्ते, घटानयनसामान्यस्य विधानादघटानयनादिसामान्यस्य तत्प्रतिपक्षस्य व्यवच्छेदादिति मतान्तरमपि न युक्तिमत्। भेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य, भेदो हि व्यक्तिर्द्र-

व्यगुणकर्मलक्षणा, तत्र द्रव्यगुणयोर्गुणभावेन क्रियायाः प्राधान्येन विधिव्यवच्छेदविधायित्वप्रतीतेर्वाक्यस्य न जातेरेव विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यं व्यवतिष्ठते। एतेन करोत्यर्थस्य क्रियासामान्यस्यार्थभावनारूपस्य विधायकं वाक्यं शब्दभावनारूपस्य वा शब्दव्यापारलक्षणस्येति प्रतिक्षिप्तं, यज्यादिक्रियाविशेषस्यापि वाक्येनाभिधानान्नियोगविशेषवदन्यथा तद्विशेषे प्रवृत्त्यभावप्रसंगात्, लक्षितलक्षणया तत्र प्रवृत्तौ शब्दप्रवृत्तिविरोधात्, शब्दप्रतिपन्नसामान्यलिंगादेव विशेषे प्रवर्त्तनात्, शब्दमूलत्वात्तत्प्रवृत्तेः शाब्दत्वे परंपरया श्रोत्रेंद्रियपूर्वकत्वात् तत्प्रवृत्तेः अक्षजज्ञाननिमित्तत्वप्रसंगात्। एतेनैव सन्मात्रसामान्यस्य विधायकं वाक्यमित्यपि व्युदस्तं सद्विशेषस्यापि वाक्येनाभिधीयमानस्य प्रतीतेर्धात्वर्थविशेषवत्। भेदस्यैव विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यमिति मतमपि न श्रेयः, सामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य सदृशपरिणामलक्षणसामान्यविशिष्टस्यैव हि भेदस्य द्रव्यगुणक्रियाख्यस्य विधिव्यवच्छेदविधायितायां वाक्यस्य संकेतव्यवहारकालान्वयः स्यान्नान्यथाऽतिप्रसंगात्। सामान्यविषक्तभेदस्यैव विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यमिति दर्शनमपि स्वरुचिविरचितमेव। विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वाद्वाक्यस्य सादृश्यसामान्यविशिष्टस्येव विसदृशपरिणामलक्षणविशेषविशिष्टस्यापि भेदस्य विधिव्यवच्छेदविधानप्रतीतेरबाध्यमानायाः प्रेक्षावद्भिराश्रयणीयत्वात्। तत्र भेदस्य द्रव्यादिव्यक्तिरूपस्या-

विशिष्टता समानता सामान्यविपक्षता स्यादभेदबुद्धेः समानबुद्धेस्तेन समानोऽयमनेन समानः स इत्यभेदबुद्धिः सदृशपरिणामात्मकसामान्यमंतरेणानुपपद्यमाना तदेव साधयतीति किंनश्चिन्तया । नन्वेकसामान्ययोगात्समानबुद्धिरन्वयिनी न पुनः समानपरिणामयोगादिति चेत् , न, सामान्यवानिति प्रत्ययप्रसंगात्, सामान्यतद्वतोर्भेदात्तयोरभेदोपचारात्समानप्रत्यय इति चेत् , न, तथाऽपि सामान्यमिति प्रत्ययप्रसंगात् । यथैव हि यष्टियोगात् पुरुषो यष्टिरिति प्रतीयते तदभेदोपचारात्तथा सामान्ययोगात् द्रव्यादिः सामान्यमिति स्यान्नतु समान इति भावप्रत्ययलोपलक्षणाभावात् ।

स्यान्मतं , सामान्यस्य वाचकः समानताशब्दोऽस्तीति तेन समानेन योगात्समानो द्रव्यादिरिति प्रत्ययः स्यादिति तदप्यसदेव । सामान्यशब्दवाच्यस्य वस्तुनः समानशब्दवाच्यत्वाप्रतीतेः समानानां भावः सामान्यं ज निर्न पुनः समान एव सामान्यमिति स्वार्थिकष्ठ्यण्प्रत्ययः क्रियते येन समानशब्दवाच्यं सामान्यं स्यात् । न च द्रव्यादिभ्यो भिन्नं सामान्यमन्वयप्रत्ययात्सिद्ध्यति नाम, परापरसामान्येषु सामान्यान्तरसिद्धिप्रसंगात् , तथा चानवस्था स्यात् सुदूरमपि गत्वाऽन्वयप्रत्ययात्सामान्यान्तरस्यासिद्धौ प्रथमतोऽपि तदन्वयप्रत्ययात् सामान्यं मा भवतु (सिद्धेत) सर्वथा विशेषाभावात् । द्रव्यादिष्वन्वयबुद्धिरबाधिततयाऽनुपचरिता सामान्येष्वन्वयबुद्धिरुपचरिताऽनवस्थाप्रसंगेन बाधितत्वादिति विशेषाभ्युपगमोऽपि न युक्तः

सर्वव्यक्तिषु सामान्यस्यैकस्यानंशस्य देशकालादिभिन्नासु युगपद्वृत्तिविरोधेन बाधितस्यान्वयबुद्ध्या विषयीक्रियमाणस्यासंभवादस्याप्यन्वयप्रत्ययस्यानुपचरितत्वासिद्धेः समर्थनात्। नन्वेवं सदृशपरिणामरूपस्यापि सामान्यस्यान्वयबुद्धेः कुतः प्रसिद्धिः समानपरिणामेष्वप्यन्वयबुद्धेः समानपरिणामान्तरप्रसंगादनवस्थायाः बाधिकायाः संभवात्, समानपरिणामस्यैकैकत्र भेदे बाधासंभवात्तस्यानेकस्थत्वादिति चेत्, न, समानपरिणामानामपि समानपरिणामान्तरप्रतीतेस्तेषामनन्तत्वादनवस्थानवकाशात्। यथैव हि घटेषु घटाकारसमानपरिणामः प्रत्येकमपरघटपरिणामापेक्षः प्रतीयते "समाना एते घटाः" इति तथा घटसमानपरिणामेष्वपि मृदाकारसमानपरिणामान्तरं प्रतिभासत एव 'मृदाकारेण समाना एते घटसमानपरिणामाः' इति तेष्वपि मृदाकारसमानपरिणामान्तरेषु पार्थिवाकारसमानपरिणामान्तराणि पार्थिवाकारेण समाना एते मृदाकारसमानपरिणामा इति प्रतिभासनात्। पार्थिवाकारसमानपरिणामेष्वपि मूर्त्तत्वाकारसमानपरिणामान्तराणि, तेष्वपि द्रव्यत्वाकारसमानपरिणामान्तराणि, तेष्वपि सत्त्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि वस्तुत्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि प्रमेयत्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि वाच्यत्वपरिणामान्तराणि, तेष्वपि ज्ञेयत्वपरिणामान्तराणि तेष्वपि पुनः सत्त्वादिपरिणामान्तराणि प्रतिचकासंति भेदनयप्राधान्यान्न तेषां क्वचिदवधिरंतो वा विद्यते यतोऽनवस्था बाधिका स्यात्। नाप्येकैकत्र भेदे समानपरिणामो विरुध्य-

ते तस्य संयोगवदनेकस्थत्वाभावात् । विशेषवदनेकापेक्षयैव तदभिव्यक्तेः कृशत्वाद्यपेक्षया स्थूलत्वादिवत् । न च समानपरिणामोऽर्थानामपारमार्थिक एवाऽपेक्षिकत्वादिति निश्चेतुं शक्यं संविद्वैशद्येन व्यभिचारात् । न हि वृद्धाक्षसंवेदनापेक्षया कुमारसंवेदनानां विशदतरत्वमापेक्षिकं न भवति तदविशेषप्रसंगात् । नाऽपि तदपारिमार्थिकं येन न व्यभिचारः स्यात् । यदा तु परिणामपरिणामिनोरभेदनयप्राधान्यात्कथंचित्तादात्म्यं प्रतिपाद्यते तदा द्रव्येषु द्रव्यत्वसमानपरिणामो द्रव्यस्वरूपमेव, तस्य च द्रव्यत्वपरिणामस्य सत्त्वादिसमानपरिणामान्तरं द्रव्यस्यैव प्रतीयते ततोऽर्थान्तरभूतस्य द्रव्यत्वपरिणामस्यासंभवादिति कुतोऽनवस्थाऽवकाशं लभते ? यदि वा येष्वेव द्रव्येषु द्रव्यत्वसमानपरिणामस्तेष्वेव सत्त्वादिपरिणामान्तराणि व्यवतिष्ठंते, केवलं तैरिवैकार्थसमवायबलात् द्रव्यत्वसमानपरिणामो व्यपदिश्यते संख्यादिगुणान्तरैरिव रूपादिगुणा इति सर्वं निरवद्यं भेदाभेदोभयनयप्रधानभावार्पितसमानपरिणामलक्षणसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायित्वनिश्चयाद्वाक्यस्यान्यथा निर्विषयत्वप्रसंगात् । यथा चाभेदबुद्धेर्द्रव्यत्वादिव्यक्तेरविशिष्टता स्यात् तथा व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते भगवतः स्याद्वाददिवाकरस्येति संप्रतीयते, विसदृशपरिणामलक्षणो हि विशेषस्तद्विषक्तताविशिष्टता सा चेदमस्माद्व्यावृत्तमिति व्या-

१ प्रथमपुस्तके 'अनेकर्थात्वाभावादिति पाठ । २ द्वितीयपुस्तके "भेदनयादानात् ।" इति पाठ.

वृत्तिबुद्धेरध्यवसीयते। ननु चायं विशेषोऽस्माद्विशेषान्तराद् व्यावृत्त इति व्यावृत्तिबुद्धेरपि विशेषेषु विशेषांतरसिद्धिप्रसंगादनवस्था स्यात्तत्र विशेषान्तराभावेऽपि व्यावृत्तिबुद्धेः संभवे सर्वत्र ततो विशेषसिद्धिर्न भवेदिति केचित्। तेऽपि न समीचीनबुद्धयः, समानपरिणामवद्भेदाभेदनयप्राधान्यादनवस्थानुपपत्तेः, भेदनयादानंत्यसिद्धेर्विशेषाणामभेदनयाच्च द्रव्येष्वेव विशेषान्तराणामपि संभवात्, भेदाभेदनयात्तु तदेकार्थसमवायिभिर्विशेषान्तरैर्विशेषस्य विवक्षितव्यपदेशसिद्धेः व्यावृत्तिबुद्धेर्विशिष्टतासाधनं साधीय एवान्वयबुद्धेः समानतासाधनवत्तता विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यमिति सूरिभिरभिधीयते प्रातीतिकत्वात्।

यथा च विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदात्मको विषयः प्रतीतिवलाद्वाक्यस्य व्यवस्थापितस्तथा वाक्यमपि परमागमलक्षणं तदात्मकमेवेति प्रतिपादयन्ति—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥ ६२॥

टीका—सर्वे च तेऽन्ताश्चेति सर्वपदार्थवृत्तेर्मत्वर्थीयः प्रत्ययो युज्यतेऽन्यपदार्थवृत्तेः परत्वेऽपि सर्वशब्दादौ तदपवादाज्जात्यर्थादिवत्, सर्वेऽन्ताः यस्य तत्सर्वान्तमिति परत्वाद्बहुव्रीहौ सति

तेनैव मत्वर्थस्य प्रतिपादनात् मत्वर्थीयो न स्याद्वीरपुरुषको ग्राम इति यथा, सर्वशब्दादेस्तु पदादन्यत्र वहुव्रीहिरित्यपवादवचनात्सर्वशब्दादेः पदस्य कर्मधारय एव भवति यथा सर्ववीजी कर्षकः सर्वकेशी नट इति तेन सर्वान्ताः संत्यस्मिन्निति सर्वान्तवत्तीर्थमिदं परमागमवाक्यमिति संवंधनीयं । तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति व्युत्पत्तेः । सर्वान्ताः पुनरशेषधर्मा विशेषसामन्यात्मकद्रव्यपर्यायव्यक्तिविधिव्यवच्छेदाः प्रतिपत्तव्याः समासतस्तैरेवानंतानामपि धर्माणां संग्रहात् । तत्र स्यादस्त्येव वाक्यं स्वरूपादिचतुष्टयादिति विधिधर्मवाक्यं, स्यान्नास्त्येव पररूपादिचतुष्टयादिति व्यवच्छेदधर्मवाक्यं स्वरूपं तु वहिर्वाक्यस्य परस्परापेक्षया पदसमूहो निराकांक्षः सहभुवामिव नानाप्रवक्तृकाणां[1] क्रमभुवामपि समूहस्य व्यवहारसिद्धेः प्रत्यासत्तिविशेषसद्भावात्। अन्तर्वाक्यस्य तु पूर्वपूर्वपदज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यपदज्ञानात्समुदायार्थप्रतिभासस्तद्व्यतिरिक्तस्य स्फोटस्य प्रागेव प्रतिक्षिप्तत्वात्तदेतत् द्विविधमपि वाक्यं स्वरूपत एवास्ति न पुनः पररूपतः सर्वात्मकत्वप्रसंगात्, पररूपत एव च नास्ति न पुनः स्वरूपतः सर्वाभावप्रसंगात् । ततो वस्तुत्वसिद्धिः स्वपररूपोपादानापोहनात्मकत्वाद्वस्तुनः तथा स्वद्रव्यं शब्दस्य तद्योग्यपुद्गलद्रव्यं शब्दात्मनो वाक्यस्य पुद्गलपर्यायत्वव्यवस्थितेः । पर्यायो हि कार्यद्रव्यरूपो गुणरूपः क्रियारूपो वानाद्यपर्यन्तद्र-

---

१ प्रथम पुस्तके 'अनंतप्रवक्तृकाणा' मिति पाठः ।

व्यस्य स्याद्वादिभिरभिधीयते। तत्र पुद्गलद्रव्यस्यानादिनिधनस्य पर्यायः शब्दो द्रव्यमनित्यमिति तावन्निश्चीयते, द्रव्यं शब्दः क्रियागुणयोगित्वात्पृथिव्यादिवत्, क्रियावांश्च शब्दः प्रवक्तृदेशाद्देशान्तरप्राप्तिदर्शनात् सायकादिवत्तथा संख्यासंयोगविभागादिगुणाश्रयत्वेन प्रतीयमानत्वात् गुणवानपि शब्दः प्रसिद्धः पृथिव्यादिवदेव। न हि शब्देषु संख्या न प्रतिभासते कस्यचिदेकं वाक्यं द्वे वाक्ये त्रीणि वाक्यानीत्यादिसंख्याप्रत्ययस्याबाध्यमानस्य प्रतीयमानत्वात्, तथा क्षकारादीनां संयुक्ताक्षराणां प्रतीतेः संयोगोपि शब्दानां प्रतीयत एव, क्षकारादेर्जात्यन्तरस्योत्पत्तेरसंयोगात्मकत्वपरिकल्पनायां दंडपुरुषसंयोगोऽपि माभूत्तथा दंडिनो जात्यंतरस्य द्रव्यस्य प्रादुर्भावादिति सर्वं प्रतीतिबाधितमनुपपद्यते। ततः प्रतीतिमबाधितामिच्छद्भिः शब्दः क्रियागुणयोगी तथा प्रतीतेरभ्युपगंतव्यः। एतेन न क्रियागुणयोगी शब्दोऽम्बरगुणत्वात्तन्महत्त्ववदित्यनुमानं प्रत्युक्तं पक्षस्य प्रत्यक्षानुमानबाधितत्वात्कालात्ययापदिष्टत्वाच्च हेतोः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेश्च। आकाशविशेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्याकाशात्मककरणग्राह्यत्वात्। यो यदात्मककरणग्राह्यः स तद्विशेषगुणो दृष्टो यथा पृथिव्यात्मककरणग्राह्यो गंधः पृथिवीविशेषगुणः, आकाशात्मकश्रोत्रग्राह्यश्च शब्दस्तस्मादाकाशविशेषगुण इत्यनुमानादाकाशविशेषगुणत्वसिद्धिरित्यपि न सम्यक्, सत्प्रतिपक्षत्वादनुमानस्य। तथा हि—नाकाशविशेषगुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति

वाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् गंधादिवदिति प्रतिपक्षानुमानस्य सत्यस्य सद्भावः, तथा न गुणः शब्दः संस्कारवत्त्वाद्बाणादिवदित्यनुमानस्य च प्रतिद्वंद्विनः संप्रत्ययात्। संस्कारवत्त्वमसिद्धं शब्दस्येति चेत्, न, वेगस्य संस्कारस्य शब्देषु भावात् वक्तृव्यापारादुत्पन्नस्य शब्दस्य यावद्वेगं प्रसर्पणात् । शब्दस्य प्रसर्पणमसिद्धं शब्दान्तरारंभकत्वादिति चेत्, स तर्हि वक्तृव्यापारादेकः शब्दः प्रादुर्भवत्यनेको वा? यद्येकस्तर्हि कथ नानादिकान्नानाशब्दानारभेत सकृदिति चिंतनीयं । सर्वदिक्कनानाताल्वादिसंयोगजनितवाय्वाकाशसंयोगानामसमवायिकारणानां भावात् , समवायिकारणस्य चाकाशस्य सर्वगतत्वात् , सर्वदिक्कनानाशब्दानारभते सकृदेकोऽपि शब्द इति चेत्; नैव, तेषां शब्दस्यारंभकत्वस्याप्यनुपपत्तेः । यथैव ह्याद्यः शब्दो न शब्दान्तरजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगादेवासमवायिकारणादुत्पत्तेस्तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि न शब्दारब्धानि ताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तेषामुत्पत्तिघटनात् , तथोपगमे च संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दस्योत्पत्तिरिति सिद्धांतव्याघातः। शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारणं तत्सदृशत्वादन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसंगो नियामकाभावादिति (केचि)चेत् , न, प्रथमशब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्यशब्दादसमवायिकारणादुत्पत्तिप्रसंगात्तस्याप्यपरपूर्वशब्दादिति शब्दसंतानस्यानादित्वापत्तिः। यदि पुनः प्रथमः शब्द, प्रवक्तृव्यापारादेव प्रतिनियतादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराणा-

रभत इति मतं तदा तत एव प्रवक्तृव्यापारात्प्रतिनियतताल्वाद्याका-
शसंयोगेभ्यस्तत्सदृशानि शब्दान्तराणि प्रादुर्भवन्तु किमाद्येन
शब्देनासमवायिकारणेनेति न शब्दाच्छब्दस्योत्पत्तिर्घटते,
नैकः शब्दः शब्दान्तराणामारंभकः संभवति। अथाऽनेकः शब्दः
प्रथमत उत्पन्नः शब्दान्तराणि नानादिक्कान्यारभते इति द्विती-
यः पक्षः कक्षीक्रियते तत्राऽप्येकस्मात्ताल्वाद्याकाशसंयोगात्क-
थमनेकः शब्दः प्रादुर्भवेदहेतुकत्वप्रसंगादेकस्मादेकस्यैवोत्पत्तेः
शेषस्य हेत्वभावात्। न चानेकताल्वाद्याकाशसंयोगः सकृदे-
कस्य वक्तुः संभवति प्रयत्नैकत्वात्, न च प्रयत्नमन्तरेण ताल्वा-
दिक्रियापूर्वकोऽन्यतरकर्मजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः प्रसूयते
यतोऽनेकः शब्दः स्यात्। प्रादुर्भवन्वा कुतश्चिदाद्यः शब्दो-
ऽनेकः स्वदेशे शब्दान्तराण्यारभते देशान्तरे वा ? न ताव-
त्स्वदेशे देशान्तरेषु तच्छ्रवणविरोधात् भिन्नदेशस्थश्रोतृजन-
श्रोत्रेषु समवायाभावात्, तत्रासमवेतस्याप्यनेकस्य शब्दान्तरस्य
श्रवणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वापत्तेः, शब्दान्तरारंभपरिकल्पना-
वैयर्थ्याच्चाद्यस्यैव शब्दस्य नानादिक्कैर्योग्यदेशस्थैः श्रोतृभिः
श्रवणस्योत्पत्तेः, अनेकाद्यशब्दपरिकल्पनावैयर्थ्याच्च तस्यैकस्यै-
व स्वदेशे प्रादुर्भूतस्य नानाश्रोतृभिरुपलंभात् स्वदेशे सतो
रूपस्य नानादृष्टिभिरुपलंभवत्। स्यान्मतं, नायनरश्मयः प्राप्य
रूपमेकदेशवर्त्त्यपि नानाद्रष्टृजनानां रूपोपलंभं जनयंति न
पुनरप्राप्य येन रूपोपलंभो दृष्टान्तः शब्दोपलंभस्याप्राप्तेरेव
श्रोत्रैः साध्यत इति तदपि न श्रेयः। श्रोत्रविवर्त्तविशेषैः प्रा-

मस्यैव शब्दस्योपलंभप्रसंगात् । शक्यं हि वक्तुं नानादेशस्थजनकरणानि प्राप्य शब्दमेकमुपलंभयन्ति सकृन्नानादिग्देशवर्तिभिः प्रतिपत्तृभिरुपलभ्यमानत्वाद् रूपवदिति । गंधेन व्यभिचार इति चेत् न, तस्यापि पक्षीकृतत्वात्, सोऽपि कस्तूरिकादिद्रव्यवर्त्ती नानादिग्देशवर्तिभिर्जनैरुपलभ्यमानः स्वस्वघ्राणकरणैः कथंचित्संप्राप्त एवोपलंभहेतुर्घटते गंधस्य देशान्तरस्थजनघ्राणेषु गमनासंभवाद् गुणस्य निष्क्रियत्वाद् गंधपरमाणूनां गमनेऽपि तत्समवेतगंधस्यानुपलभ्यमानत्वात्, अनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिरित्यनुवर्त्तमाने, एतेन गंधरसस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातमिति वैशेषिकैरभिधानात् । गन्धद्रव्यावयविनामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानां देशान्तरेषु गमने तु मौलकस्तूरिकादिद्रव्यव्ययप्रसंगस्तस्यैव सर्वदिक्कं खंडावयविरूपावयवानां तदारंभकानां गमनात् । यदि पुनर्न कस्तूरिकादिद्रव्यस्य परमाणवो गंधसमवायिनो गच्छंति नाऽपि खंडावयविनस्तदारंभकावयवास्ततो गन्धद्रव्यान्तराणामुत्पत्तेरिति मतं, तदाऽपि तदारंभकैः पार्थिवैः परमाणुभिर्भवितव्यं द्व्यणुकादिभिर्वाऽनुपलंभैरेवोपलब्धिलक्षणप्राप्तानां पार्थिवावयविनामुपलब्धिप्रसंगात् । न चानुपलब्धिलक्षणप्राप्तैः पार्थिवद्रव्यैरारब्धेषु द्रव्यांतरेषु समवेतस्य गधस्योपलब्धिर्युज्यते परमाणुसमवेतगंधवदिति न गन्धद्रव्यान्तराणि कस्तूरिकादिगन्धद्रव्यमारभन्ते यतः प्राप्तान्येव दूरस्थप्रतिपत्तृघ्राणतद्विषयतामनुभवेयुर्घ्राणेन्द्रियवृत्तिभिस्तु गत्वा गन्धस्य ग्रहणे प्रोक्तदोषानवकाश इति

श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनानि गत्वा स्वविषयज्ञानं जनयन्ति बाह्येन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदन्यथा तेषामप्राप्यकारित्वप्रसंगात्। ततो न व्यभिचारः शब्दस्य नानादिक्कजनकरणैर्ग्रहणसाधनस्योक्तहेतोरिति नाद्यादनेकस्मादपि शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिः संभवतीति सर्वदिक्कपरापरशब्दप्रसर्पणं यावद्वेगमभ्युपगन्तव्यं। तथा च संस्काराख्यगुणयोगित्वं नासिद्धं यतः सूक्तमिदं न स्यात् 'न गुणः शब्दः संस्कारवत्त्वाद्बाणादिवदिति।' पुद्गलद्रव्यपर्यायात्मकत्वे तु गंधादिवदित्यभ्यनुज्ञायमाने न किंचिद्बाधकमस्ति। ननु च न स्पर्शवत् द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्सुखादिवदिति बाधकसद्भावान्न पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वं शब्दस्य व्यवतिष्ठते सुखादेरपि तथाभावप्रसंगादिति कश्चित्। सोऽपि स्वदर्शनपक्षपाती, परीक्ष्यमाणस्याकारणगुणपूर्वकत्वस्यासिद्धत्वात्, कारणगुणपूर्वकः शब्दः पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वाच्छायातपादिवत्, पुद्गलस्कंधपर्यायः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्तद्वत्। न घटत्वादिसामान्येन व्यभिचारस्तस्यापि समानपरिणामलक्षणस्य पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वसिद्धेः तदसिद्धमेवाकारणगुणपूर्वकत्वं शब्दस्य न साध्यसिद्धिनिबंधनं कारणगुणपूर्वकत्वेन साधनात्। हेतुविशेषणं चास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति व्यर्थमेव। परमाणुरूपादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थं तदिति चेत् न, परमाणुरूपादीनामपि कारणगुणपूर्वकत्वसिद्धेः, परमाणूनां स्कंधभेदकार्यत्वात् तद्गुणपूर्वकत्वव्यवस्थितेः परमाणुरूपादीनामिति निर्णीतमायं। यदप्युक्तं न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादि-

प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वात्सुखादिवदिति, तदप्ययुक्तं विरुद्धत्वात्साधनस्य । तथाहि-स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वाद् रूपादिविशेषवत्, नात्र साधनविकलमुदाहरणं रूपादिविशेषाणां यावत्पुद्गलद्रव्यमभावात् पूर्वरूपादिविनाशादुत्तररूपादिविशेषप्रादुर्भावात् । नाऽपि साध्यविकलं रूपादिविशेषाणां स्पर्शवद् द्रव्यगुणत्वावस्थितेः । सुखादिभिर्व्यभिचारः साधनस्येति चेत् , नास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सतीति विशेषणात् । न च सुखादयः शब्दवदऽस्मदादीनां बहूनां प्रत्यक्षाः, स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तु कस्यचित् सुखादयः स्वस्यैव प्रत्यक्षा न पुनर्नानास्मदादीनामिति न तैर्व्यभिचारः । स्वस्याप्यस्मदादिग्रहणेन गृहीतत्वात् स्वप्रत्यक्षत्वमप्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वं सुखादीनां प्रत्यक्षसामान्यापेक्षयास्मदादिप्रत्यक्षत्ववचनादिति चेत्, तथाऽपि न सुखादिभिर्व्यभिचारः, स्याद्वादिभिः सांसारिकसुखादीनां कथंचित्स्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वस्य प्रतिज्ञानात् । यथैव ह्यात्मपर्यायाः सुखादयश्चिद्रूपसमन्वयास्तथा सद्वेद्यादिपौद्गलिककर्मद्रव्यपर्यायाश्च, स्वपरतंत्रीकरणरूपसमन्वयादौदयिकभावानां कर्मद्रव्यस्वभावत्वसिद्धेः। मुक्तसुखज्ञा- दर्शनादिभिस्तु गुणैरस्पर्शद्द्रव्यात्मगुणैर्न व्यभिचारस्तेषामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वादस्मदादिविशिष्टयोगिप्रत्यक्षविषयत्वात्तेषामयावद्द्रव्यभावित्वाभावाच्चानंतत्वेन यावदात्मद्रव्यं भवनशीलत्वात् । ततो निरवद्यमेव विरुद्धसाधनत्वमेतस्य हेतोरिति स्पर्शवद् द्रव्यपर्याय एव शब्दः प्रतीतिबलात्सिद्धः ।

शब्दयोग्यपुद्गलानां सर्वत्र भावादन्यथा क्वचित्तत्ताल्वादिकारण-सद्भावेऽपि शब्दपरिणामानुत्पत्तिप्रसंगात्। न च शब्दपरिणामनिमित्तसन्निधौ क्वचित्कदाचिच्छब्दानुत्पत्तिः स्यात्स च शब्दपरिणामो नैक एव नानाश्रोतृभिः श्रवणविरोधात्। श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वान्न तद्विरोध इति चेत्; न, तस्याप्राप्यकारित्वे कर्णशष्कुल्यन्तःप्रविष्टमशकशब्दग्रहणायोगात् चक्षुषोऽप्राप्यकारिणः तारकाप्राप्तांजनादिग्रहणादर्शनात्तथा चेदमभिधीयते—नाप्राप्यकारि श्रोत्रं प्राप्तशब्दग्रहणात्स्पर्शनादिवत्, यत्पुनरप्राप्यकारि तन्न प्राप्तविषयग्राहि दृष्टं यथा चक्षुरिति निश्चितव्यतिरेकादनुमानादप्राप्यकारित्वप्रतिषेधः श्रोत्रस्य श्रेयानेव। ननु चाप्राप्यकारिणा मनसा प्राप्तस्य सुखादेर्ग्रहणाद् व्यभिचार इति चेन्न सुखादेरात्मनि समवेतस्य मनसा प्राप्त्यभावात्। मनसः संयुक्ते पुंसि सुखादेः समवायात् संयुक्तसमवायप्राप्तिरिति चेत् न, दूरस्थैरपि मनसः प्राप्तिप्रसगात्, मनसा संयुक्तस्यात्मनस्तैः संयोगात्संयुक्तसंयोगस्य प्राप्तित्वात्, साक्षात्तैरप्राप्तिर्मनस इति चेत्, सुखादिभिरपि साक्षात्प्राप्तिः किमस्ति? परंपरया तैर्मनसः प्राप्तिस्तु न प्राप्यकारित्वं साधयति दूरार्थैरिवेति सर्वत्राऽप्यप्राप्यकारित्वे मनसस्ततो न तेन व्यभिचार इति श्रेयानेव श्रोत्रस्य प्राप्यकारित्वसाधनो हेतुः। ये त्वाहुः शब्दोऽप्राप्त एवेंद्रियेण गृह्यते दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वाद्रूपवदिति। तेऽपि न परीक्षकाः, गंधेन व्यभिचारात् साधनस्य। गन्धद्रव्यस्य गन्धाधिष्ठानस्य दूरादित्वात्

गंधस्य दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वान्न तेन व्यभिचार इति चेत् न, शब्दस्यापि तदधिष्ठानभेर्यादिदूरादित्वेन दूरे शब्दो दूरतरे दूरतमे वेति ग्रहणादुपचारात्, दूरादित्वेन गृह्यमाणत्वस्य हेतोः परमार्थतोऽसिद्धत्वापत्तेः। ततः प्राप्त एव शब्दो विवादापन्नः परिगृह्यते शब्दत्वात्कर्णशष्कुल्यन्तःप्रविष्टमशकशब्दवदिति प्राप्यकारि श्रोत्रं सिद्धं। तथा चैकस्य शब्दस्य युगपन्नानादेशस्थजनश्रोत्रैः प्राप्त्यसंभवान्नानाशब्दपरिणामाः सर्वदिक्काः प्रजायन्ते स्वप्रतिबन्धककुड्याद्यसंभवे स्वावरोधकनलिकाद्यसंभवे च स्वप्रतिघातकघनतरकुड्यादिविरहे च सति गंधपरिणामवत्, समानाश्च सर्वे गवादिशब्दविवर्त्ताः समानताल्वादिकारणप्रभवत्वात्समानकस्तूरिकादिद्रव्यप्रभवगन्धविवर्तवत्, शब्दोपादानपुद्गलानां सर्वशब्दपरिणामसमर्थानां सर्वत्र सद्भावेऽपि प्रतिनियतहेतुवशात्प्रतिविशिष्टशब्दपरिणामाश्च निश्चीयन्ते, गन्धोपादानपुद्गलानां सर्वेषां सर्वत्र सर्वगन्धपरिणामसमर्थानां संभवेऽपि प्रतिनियतहेतुगन्धवशात्प्रतिविशिष्टगन्धपरिणामवत्।

ननु च वायव एव शब्दोपादानं तेषां सर्वत्र सर्वदा सद्भावादन्यथा व्यंजनादिना तदभिव्यक्तेरयोगाद्वेगवद्वाय्वन्तरेणाभिघाताच्चेति केचित्। तेऽपि वायवीय शब्दमाचक्षाणाः श्रोत्रग्राह्यं कथमाचक्षीरन् तस्य स्पर्शनग्राह्यत्वप्रसंगात्स्पर्शवत्। तथा हि-वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यः शब्दो वाय्वसाधारणगुणत्वात्, यो यदसाधारणगुणः स तदिन्द्रियग्राह्यः सिद्धो यथा

पृथिव्यप्तेजोऽसाधारणगुणो गंधरसरूपविशेषगुणः पार्थिवाप्य-
तैजसघ्राणरसननयनेन्द्रियग्राह्यः, वाय्वसाधारणगुणश्च शब्द-
स्तस्माद्वायवीयस्पर्शनेन्द्रियग्राह्य इति श्रोत्रपरिकल्पनावैयर्थ्य-
मापद्येत। यदि पुनराकाशसहकारिकारणत्वाच्छब्दस्याकाश-
समवायेन श्रोत्रेण ग्रहणमुररीक्रियते तदा स्पर्शस्याऽपि श्रोत्र-
ग्राह्यत्वप्रसंगस्तस्याप्याकाशसहकारिवायूपादानत्वाच्छब्दवत्।
गन्धादीनां च श्रोत्रवेद्यत्वं स्यादाकाशसहकारिपृथिव्याद्युपा-
दनत्वात्। न ह्याकाशं कस्यचिदुत्पत्तौ स्वोपादानात्सहकारि न
भवेत्, सर्वोत्पत्तिमतां निमित्तकारणात्कालादिवत्। स्यान्मतं,
नाऽयं नियमोऽस्ति यो यदसाधारणगुणः स तदिन्द्रिय-
ग्राह्य इति पार्थिवस्य पंचप्रकारस्य वर्णस्य षट्प्रकारस्य रसस्या-
नुष्णाशीतस्य पाकजस्य स्पर्शस्य च पार्थिवघ्राणेंद्रियग्राह्यत्व-
प्रसंगात्तथा शीतस्पर्शस्य शीतस्य च रूपस्याप्यरसनेन्द्रियवेद्य-
त्वं, तैजसस्य चोष्णस्पर्शस्य तैजसचक्षुर्वेद्यत्वं कथं विनिवार्येत?
तन्नियमकल्पनायामिति यस्य यस्मादिंद्रियाद्विज्ञानमुत्पद्यते तस्य
तदिंद्रियग्राह्यत्वं व्यवतिष्ठते तथा प्रतीतेरतिलंघयितुमशक्तेः केव-
लमिंद्रियस्य प्रतिनियतद्रव्योपादानत्वं साध्यते प्रतिनियतगुण-
ग्राहकत्वादिति। तदेतदसारं, प्रतिनियतद्रव्योपादनत्व-
स्य घ्राणादीनां साधयितुमशक्यत्वात्। पार्थिवं घ्राणं रूपा-
दिषु सन्निहितेषु पार्थिवगन्धस्यैवाभिव्यंजकत्वान्नागकर्णि-
काविमर्दककरतलवदित्यनुमानस्य सूर्यरश्मिभिरुदकसेकेन
चानेकान्तात्। दृश्यते हि तैलाभ्यक्तस्य सूर्यमरीचि-

भिर्गन्धाभिव्यंक्तिर्भूमेस्तूदकसेकेनेति । तथा रसनेंद्रियमाप्य-
मेव रूपादिषु सन्निहितेषु रसस्यैवाभिव्यंजकत्वाल्लालावदि-
त्यत्राऽपि हेतोर्लवणेन व्यभिचारात्तस्यानाप्यत्वेन रसाभिव्यं-
जकत्वसिद्धेः । तथा चक्षुस्तैजसमेव रूपादिषु सन्निहितेषु रूप-
स्यैवाभिव्यंजकत्वात्प्रदीपादिवदित्यत्राऽपि हेतोर्माणिक्योद्यो-
तेन व्यभिचारात् । न च माणिक्यप्रभा तैजसी मूलोष्णद्रव्य-
वती प्रभा तेजस्तद्विपरीता भूरिति वचनात् । तथा वायव्यं स्पर्शनं
रूपादिषु सन्निहितेषु स्पर्शस्यैवाभिव्यंजकत्वात्तोयशीतस्पर्शव्यंज-
कवाय्ववयविवदित्यत्राऽपि कर्पूरादिना सलिलशीतस्पर्शव्यंजकेन
हेतोर्व्यभिचारात्, पृथिव्यप्तेजःस्पर्शाभिव्यंजकत्वाच्च स्पर्शनेन्द्रियस्य
पृथिव्यादिकार्यत्वप्रसंगाच्च वायुस्पर्शाभिव्यंजकत्वाद्वायुकार्यत्ववत्
एतेन चक्षुषस्तेजोरूपाभिव्यंजकत्वात्तेजःकार्यत्ववत्पृथिव्यप्स-
मवायिरूपव्यंजकत्वात्पृथिव्यप्कार्यत्वप्रसंगः प्रतिपादितः । रस-
नस्य चाप्यरसाभिव्यंजकत्वादप्कार्यत्ववत्पृथ्वीरसाभिव्यंजक-
त्वात्पृथिवीकार्यत्वप्रसंगश्च तथा नाभसं श्रोत्र रूपादिषु सन्निहि-
तेषु शब्दस्यैवाभिव्यंजकत्वात्, यत्पुनर्न नाभसं तन्न शब्दाभि-
व्यंजकं यथा घ्राणादि, शब्दस्याभिव्यंजकं च श्रोत्रं त-
स्मान्नाभसमित्यनुमानस्याप्यप्रयोजकत्वात् नभोगुणत्वासिद्धेः
शब्दस्य समर्थनात् नभसि समवेतस्य ग्रहणासंभवात् । ततो
नेन्द्रियाणि प्रतिनियतभूतप्रकृतीनि व्यवतिष्ठन्ते प्रमाणाभा-
वात् प्रतिनियतेंद्रिययोग्यपुद्गलारब्धानि तु द्रव्येंद्रियाणि प्रति-
नियतभावेन्द्रियोपकरणत्वान्यथाऽनुपपत्तेर्भावेन्द्रियाणामेव स्प-

र्शनादीनां स्पर्शादिज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषलक्ष-
णानां स्पर्शादिप्रकाशकत्वसिद्धेरिति पौद्गलिकः शब्दः पौद्गलि-
कद्रव्येन्द्रियाभिव्यंग्यत्वात्स्पर्शरसगन्धवर्णावत्, न पुनर्वायवीयो
नभोगुणो वा सर्वगतामूर्त्तनित्यद्रव्यं वा प्रमाणाभावात् । प्रपं-
चतः प्रतिपादितं चैतत् तत्त्वार्थालंकारे प्रतिपत्तव्यं । तेन
शब्दस्य द्रव्यं पुद्गलाख्यं वहिरंगस्य निश्चीयते, तथा च स्वद्र-
व्यतः शब्दात्मकं वाक्यमस्ति न परद्रव्यतः, सर्वात्मकत्वप्रसं-
गात्, परद्रव्यतश्च नास्ति वाक्यं न पुनः स्वद्रव्यतस्तस्याद्र-
व्यात्मकत्वप्रसंगादिति विधिप्रतिषेधात्मकं वाक्यं सिद्धम् ।
तथा स्वक्षेत्रकालाभ्यामस्ति वाक्यं न परक्षेत्रकालाभ्यां सर्व-
क्षेत्रकालात्मकत्वप्रसंगात्, परक्षेत्रकालाभ्यामेव नास्ति न पुनः
स्वक्षेत्रकालाभ्यां, तस्याक्षेत्रकालत्वापत्तेः । तदेवं सामान्यतो
विधिनिषेधात्मकं वाक्यं सर्वान्तवत्कथ्यते सर्वान्तानां विधिनि-
षेधाभ्यां संग्रहात्, तदनात्मकस्य कस्यचिदन्तस्यासंभवात् । वि-
शेषतस्तु भेदाभेदात्मकं द्रव्यपर्यायव्यक्त्यात्मकत्वात्, तत्र द्रव्यं
शब्दः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवदिति शब्दयोग्यपुद्गलद्रव्यार्थादेशाद्
द्रव्यत्वसिद्धिः, तथा पर्यायः शब्दः प्रादुर्भावप्रध्वंसवत्त्वाद्घटादिव-
दिति श्रवणज्ञानग्राह्यशब्दपर्यायार्थादेशादिति पर्यायत्वसिद्धिः ।
तथा विसदृशपरिणामविशेषात्मकं सदृशपरिणामसामान्यात्मकं
च वाक्यं शब्दद्रव्याणां शब्दपर्यायाणां च नानात्वात्परस्परा-
पेक्षया समानेतरपरिणामसिद्धेर्गन्धादिद्रव्यपर्यायवदिति सर्वा-

न्तवद्वाक्यं सिद्धं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषेषु सर्वान्तानामन्तर्भावात्सर्वस्यान्तस्यान्तस्त्वभावानतिक्रमात्।

नन्वेवं द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मकस्य सर्वान्तवत्त्वे वाक्यस्य युगपत्तथा व्यवहारप्रसंग इति न शंकनीयं, तद्गुणमुख्यकल्पमिति वचनात्। द्रव्यस्य हि गुणत्वकल्पनायां पर्यायस्य मुख्यत्वकल्पनात्पर्यायो वाक्यमिति व्यवहारः प्रवर्त्तते पर्यायस्य तु गुणकल्पनत्वे मुख्यकल्पं द्रव्यमिति वाक्ये द्रव्यत्वव्यवहारः प्रतीयते तथा सामान्यस्य गुणकल्पत्वे विशेषस्य मुख्यकल्पत्वाद्विशेषो वाक्यमिति व्यवह्रियते, विशेषस्य च गुणकल्पत्वे सामान्यस्य मुख्यकल्पनात्सामान्यं वाक्यमिति व्यवहारात्, सुनिर्णीतासम्भद्बाधकप्रमाणात्सर्वान्तवद्वाक्यं निश्चीयते, संकरव्यतिकरव्यतिरेकेण सर्वान्तानां तत्र व्यवस्थानाद्विरोधादीना तत्रानवकाशात्परस्परापेक्षत्वात्। न चैवं परस्परनिरपेक्षमपि सर्वान्तवद् वाक्यं कल्पयितुं शक्यं "सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्ष"मिति वचनात्। न हि विधिनिरपेक्षो निषेधोऽस्ति कस्यचित्कथंचित्कचिद्विधीयमानस्यैवान्यत्राऽन्यदान्यथा निषेध्यमानत्वदर्शनात्,नाऽपि निषेधनिरपेक्षोविधिरस्ति सर्वस्य सर्वात्मकत्वप्रसंगात्। तथा न द्रव्यपर्यायौ मिथोऽनपेक्षौ तत्तद्भावान्यथानुपपत्तेः, नापि सामान्यविशेषौ मिथोऽनपेक्षौ विद्येते तद्भावविरोधादिति सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षं वाक्यं सिद्धं; तद्विषयत्वात्परस्परनिरपेक्षाणां सर्वेषामन्तानामेकत्वादीनां निरूप्यमाणानां सर्वथाऽप्यसंभवात्।

तेन यदुक्तं धर्मकीर्तिना-

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः।

यस्मादनेकमेकं च रूपं तेषां न विद्यते॥ इति।

तत् स्याद्वादिनामभिमतमेव।

तदेतत्तु समायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।

यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा॥

इत्यादिवत्। परस्परनिरपेक्षाणां केनचिद्रूपेणार्थानां व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात्। ततः सर्वापदामन्तकरं तवैव परमागमलक्षणं तीर्थं सकलदुर्नयानामंतकरत्वात्तत्कारणशारीरिकमानसिकविविधदुःखलक्षणानामापदामन्तकरत्वोपपत्तः। मिथ्यादर्शननिमित्ता हि सर्वाः प्राणिनामापद इति सर्वमिथ्यादर्शनानामन्तकरं तीर्थं सर्वापदामन्तकरं सिद्धं। तत एव निरंतं केनचिन्मिथ्यादर्शनेन विच्छेत्तुमशक्तेरविच्छेदत्वसिद्धेः। तथा सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रभेदानां हेतुत्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः। सर्व उदयोऽभ्युदयोऽस्मादिति सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैवेति वचनात्। परेषां तदसंभवः सिद्ध एव।

ननु परोऽप्येवं ब्रूयान्नैरात्म्यवादिन एव तीर्थं सर्वोदयं सर्वापदामन्तकरं न पुनः परेषामिति। तदुक्तम्—

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो

नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम्।

अन्यः शास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादा-

ज्ञान्य तस्सोदयशमविधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः ॥ इति तथाऽन्यः परमात्मवादी ब्रूयात्परमब्रह्मण एव तीर्थं सर्वोदयं न परेषां नैरात्म्यवाद्यादीनां तत्र संशयहेतुत्वात् ।

तथा चोक्तम्—

यो लोकाञ्ज्वलयत्यनल्पमहिमा सोऽप्येष तेजोनिधि-
र्यस्मिन्सत्यवभाति नासति पुनर्देवोंऽशुमाली स्वयम् ।
तस्मिन्बोधमयप्रकाशविशदे मोहान्धकारापहे,
येऽन्तर्यामिनि पूरुषे प्रतिहताः संशेरते ते हताः ॥

एवमन्योपीश्वरवादीश्वरादेरेव तीर्थं सर्वोदयमिति स्याद्वादितीर्थमनेकधा द्वेष्टि । सोऽपि—

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ ६३ ॥

टीका—कामं यथेष्टं स्वदुरागमवासनावशीकृतान्तःकरणः सर्वथैकान्तवादी द्विषन्नपि तत्रानेकान्तामृतसमुद्रस्य तीर्थं दर्शनमोहोदयाकुलितबुद्धिस्ते तवेष्टमनेकान्तात्मकमन्तर्बहिश्च जीवादितत्त्वं समीक्षतां परीक्षतां समदृष्टिः सन्मध्यस्थवृत्तिरुपपत्तिचक्षुर्भूत्वा, मात्सर्यचक्षुषस्तत्त्वसमीक्षायामनधिकारादसमदृष्टेश्च रागद्वेषकलुषितात्मन इत्युभयविशेषणवचनमुपपत्तिचक्षुः समदृष्टिरिति, स तथा समीक्षमाणस्तवेष्टं शासनं त्वय्येव भगवति

खंडितमानशृंगो भवति ध्रुवमिति संबंधः। मानो हि सर्वथै-कान्ताभिमानः स एव शृंगं स्वाश्रयस्य विवेकशून्यतया पशुकरणात्, खंडितं प्रतिध्वस्तं मानशृंगं यस्य स खंडितमानशृंगः, परित्यक्तसर्वथैकान्ताभिमान इत्यर्थः। तथा चाऽभद्रोऽपि मिथ्यादृष्टिरपि समंतभद्रः समन्ततः सम्यग्दृष्टिर्भवतीति तात्पर्यं। अभद्रं हि संसारदुःखमनंतं तत्कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमभद्रं तद्योगान्मिथ्यादृष्टिरभद्र इति कथ्यते स च मतदृष्टि-र्भूत्वोपपत्तिचक्षुषा समीक्षमाणस्तवेष्टं श्रद्धत्ते सर्वथैकान्तवादीष्टस्योपपत्तिशून्यत्वात्तत्रोपपत्तीनां मिथ्यात्वात्तदभिमानविनाशात्, तथा तवेष्टं श्रद्दधानश्च सम्यग्दृष्टिः स्यात्समन्ताद्भद्रस्य कल्याणस्यानंतसुखकारणस्य सम्यग्दर्शनस्य प्रादुर्भावात्समन्तभद्रो भवत्येव। सति दर्शनमोहविगमे परीक्षायास्तत्कारणत्वात्, तत्त्वपरीक्षा हि कुतश्चित्परीक्ष्यज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषात्कस्यचित्कदाचित्कथंचित् प्रवर्तेत, सा च प्रवर्तमाना तत्त्वनिश्चयमतत्त्वव्यवच्छेदेन घटयति, तद्घटना च दर्शनमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे तत्त्वश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं प्रादुर्भावयति। तेनोपपत्तिचक्षुषा समीक्षां विदधानः सम्यग्दृष्टिः समंतभद्रः स्यादिति प्रतिपद्येमहि बाधकाभावात्। न हि परीक्षायामुपपत्तिबलान्नैरात्म्यमेवोपशमविधेर्मार्ग इति व्यवतिष्ठते।

स्यान्मतं, जन्मप्रबंधस्य कारणमहंकारस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्तस्य चाहंकारस्य कारणमात्मदृष्टिः, सा च नैरात्म्यभावनया तद्विरुद्धया प्रशम्यते तदुपशमाच्चाहंकारश्चे-

तस्मिन् समूलतलमुपशाम्यति तदुपशमाच्च देहिनां जन्मप्रबंधस्योपशमो निश्चीयते तेन तत्कारणाभावात्तेनोपपत्तिबलादेवोपशमविधेर्नैरात्म्यभावनैव मार्गः समवतिष्ठते। तदसदेव, आत्मदर्शनस्यैव जन्मप्रबंधोपशमविधिमार्गत्वोपपत्तेस्तथा हि—जन्मप्रबंधस्य हेतुरहंकारो मोहोदयनिमित्तोऽहंतामात्रनिमित्तो वा? प्रथमपक्षे नात्मदृष्टिहेतुकः स्यादविद्यातृष्णाक्षयेऽपि चित्तमात्रनिबंधनत्वप्रसंगात्। सत्येवाविद्यातृष्णोदये चित्तमहंकारस्य हेतुरिति चेत्, तर्हि सत्येव मोहोदयेऽहंकारहेतुरात्मदृष्टिरिति किमनुपपन्नं। द्वितीयपक्षे तु युक्तिविरोधः, संसारस्याहंतामात्रनिमित्तत्वे मुक्तस्यापि संसारप्रसंगात्, ततो नाहंतामात्रं जन्मप्रबंधहेतुरविद्यातृष्णाशून्यत्वात्सुगतचित्ताहंतामात्रवदित्युपपत्त्याऽहंतामात्रहेतुत्वं संसारस्य बाध्यत एव। न च सुगतचित्तस्याहंतामात्रमपि नास्तीति युक्तं वक्तुं, स्वसंवेदनस्याहं सुगत इति प्रतिभासमानस्याभावप्रसंगात्। न ह्यहमिति विकल्पोऽहंतामात्रं सकलविकल्पशून्यस्य योगिनस्तदसंभवात्, नाऽप्यहमस्य स्वामीति ममेदंभावोऽहंतामात्रं तस्य मोहोदयनिमित्तस्य क्षीणमोहे योगिनि संभवाभावात्। ततो न साध्यशून्यो दृष्टान्तः साधनशून्यो वा सुगतचित्ते स्वयमविद्यातृष्णाशून्यत्वस्य सौगतैरभीष्टत्वात्। नन्वात्मदृष्टेरविद्यातृष्णाशून्यत्वासंभवादात्मदृष्टेरेवाविद्यात्वादविद्याया एव च तृष्णाहेतुत्वादविद्यातृष्णाशून्यत्वमसिद्धमेवेति चेत्, नात्मदृष्टेरविद्यात्वासिद्धेश्चित्तक्षणदृष्टिवत् यथैव हि प्रतिक्षणं चित्तदर्शनं विद्या तदन्तरेण

बुद्धिसंचरणानुपपत्तेस्तथानाद्यनंतात्मदृष्टिरपि तदभावेऽहंताप्र-
त्यभिज्ञानस्यानुपपत्तेः । चित्तसंतानोऽहंताप्रत्यभिज्ञानहेतुरिति
चेत् न, तस्यावस्तुत्वात्, वस्तुत्वे वा स एवात्मा स्यान्नाम-
मात्रभेदात् । ततः कथंचिन्नित्यस्य क्षणिकस्य चात्मनो दर्श-
रहंकारनिबंधनजन्मप्रन्यस्य मोहहेतुकाहंकारनिवृत्तिहेतुत्वसिद्धे-
नस्याविद्यातृष्णाशूबंधस्योपशमोपपत्तेर्न नैरात्म्यभावनोपशम-
विधेर्मार्गः सिध्येत्पुरुषाद्वैतभावनावत् ।

न हि पुरुषाद्वैते संसारमोक्षतत्कारणसंभवो द्वैतप्रसंगात् ।
नाऽपि केचिल्लोकाः सन्ति तेजोनिधिर्वा यस्तान् ज्वालयति
भाति च परमात्मनि सत्येव नासतीति मोहान्धकारापहो बोध-
मयप्रकाशविशदोऽन्तर्यामी पुरुषः सिद्ध्येत्, तस्मिंश्च ये संशे-
रते ते हताः स्युः । सर्वस्यास्य प्रपंचस्यानाद्यविद्यावलात्परिक-
ल्पने च न परमार्थतः कश्चिदुपशमविधेर्मार्गः स्यान्नैरात्म्यदर्श-
नवत् । एतेनेश्वरादिरेवोपशमविधेर्मार्ग इति ब्रुवन्निरस्तः, तस्या-
प्युपपत्तिबाधितत्वात्सुगतादिवदित्याप्तपरीक्षायां विस्तरतस्त-
त्त्वार्थालंकारे च निरूपितं ततः प्रतिपत्तव्यं ।

नन्वेवं भगवति वर्द्धमाने रागादेव भवतां स्तोत्रं द्वेषादेव
चान्येषु दोषोद्भावनं न पुनः परमार्थत इत्याशंकां निराकुर्वन्तो
वृत्तमाहुः—

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशाच्छिदि मुनौ
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाभ्यासखलता ।

किमु न्यायान्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां
हितान्वेषोपायस्तव गुणकथासंगगदितः ।६४।

टीका——न रागान्नोऽस्माकं परीक्षाप्रधानानां भवति व-र्द्धमाने 'स्तोत्र प्रवृत्तं कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमानमित्यादिकं भवतो मुनेर्भवपाशच्छेदित्वात्तदर्थितया स्तोत्रस्योपपत्तेः, न चा-न्येष्वनेकान्तवादिषु द्वेषादेवापगुणकथाभ्यासेन खलता न-स्तत एव किमुत न्यायान्यायज्ञमनसां प्रकृतगुणदोषज्ञमनसां च च हिताहितान्वेषणोपायस्तव गुणकथासंगेन गदित इति ना-भेक्षापूर्वकारिता सूरेः, श्रद्धागुणज्ञतयोरेव परमात्मस्तोत्रे युक्त्य-नुशासने प्रयोजकत्वात् । साम्प्रतं स्तोत्रफलं सूरयः प्रार्थयन्ति ।

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः
स्तुतः शक्त्या श्रेयःपदमधिगतस्त्वं जिन मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये
विधेया मे भक्तिः पथि भवत एवाप्रतिनिधौ ।६५

टीका—भवतो जिनस्य पथि मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारि-त्रलक्षणेऽप्रतिनिधौ—प्रतिनिधिरहितेऽन्ययोगव्यवच्छेदेन नि-र्णीते भक्तिमाराधनां विधेयास्त्वं जिन ! मे भगवन्निति स्तो-त्रफलप्रार्थना परमनिर्वाणफलस्य तन्मूलत्वात् । कुतः स्वपथि भक्तिं विधेयास्त्वमिति चेत्, यतो दुरितपरसेनाभिविजये वी-रस्त्वं यतश्च महावीरः श्रेयःपदमधिगतत्वात् यतश्च स्तुतः शक्त्या मयेति । कस्मात्त्वं स्तुत इति चेत्, स्तुत्यो यस्मात्

स्वयं स्तुत्यैरपि त्रिदशमुख्यैः सुरेन्द्रैर्मुनिमुख्यैश्च गणधरदेवादिभिः प्रणिहितैरेकाग्रमनस्कैरिति हेतुहेतुमद्भावेन पदघटना विधेया। नहि दुरितपरसेनाभिविजयो वीरत्वमन्तरेण संभवति, अवीरेषु वीर्यातिशयशून्येषु तदघटनात्, यतोऽयं वीरत्वेनानतवीर्यत्वलक्षणे साध्ये हेतुर्न स्यात्। न चायं कर्मरिपुसेनाभिविजयो जिनस्यासिद्ध एव।

"त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम्। अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः" ॥

इत्यनेन तस्य साधितत्वात्। तथा महावीरत्वे सकलवीराधिपतित्वलक्षणे साध्ये श्रेयःपदाधिगतस्यापि हेतुत्वमुपपन्नमेव तदंतरेण तदनुपपत्तेः। न च भगवतः श्रेयःपदाधिगतत्वमसिद्धं ब्रह्मपथस्य नेतेत्यनेन तस्य साधनात्। तथाऽन्येषां स्तुत्यैस्त्रिदशमुख्यैर्मुनिमुख्यैश्च प्रणिहितैरनन्यमनोवृत्तिभिः स्तुत्यत्वे साध्ये महावीरत्वं हेतुरुपपद्यत एवान्यस्य तैरस्तुत्यस्य महावीरत्वानुपपत्तेरिति यः स्तुतिगोचरत्वं निनीषुराचार्यो भगवंतं वीरमासीत् (?) तेन स्तुतो भगवानेवेति भगवत एव पथि भक्तिं प्रार्थितवान्, तस्याप्रतिनिधित्वात्तदाराधनाप्राप्तौ कर्मरिपुसेनाभिविजयस्य तत्कार्यस्य संप्राप्तिसिद्धेश्च श्रेयःपदाधिगमोपपत्तेर्जिनत्वस्योपमेयस्यावश्यंभावित्वात्। कथं पुनरसौ भगवतः पन्थाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकोऽप्रतिनिधिः सिद्ध इति चेत्। तदपरस्य ज्ञानमात्रस्य वैराग्यमात्रस्य

वा तदुभयमात्रं वा परमात्मोपायस्यासंभवात्, सकलसंसारकारणं हि मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं तत्कथं ज्ञानमात्रान्निवर्त्तते मिथ्याज्ञानस्यैव ततो निवृत्तेः, न च मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ रागादिदोषादिकं मिथ्याचारित्रं निवर्त्तते; समुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यापि रागादिदोषसद्भावसिद्धेः । प्रक्षीणमोहात्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तिरिति चेत्, स एव मोहप्रक्षयः कुतः स्यात् । तत्त्वज्ञानातिशयादेवेति चेत्; कः पुनस्तत्त्वज्ञानातिशयः ? प्रक्षीणमोहत्वमिति चेत्, परस्पराश्रयः सति मोहप्रक्षये तत्त्वज्ञानातिशयः सति वाऽतिशये मोहप्रक्षय इति । साक्षात्सकलपदार्थपरिच्छेदित्वं तत्त्वज्ञानातिशय इति चेत्; तत्कुतः सिद्ध्येत् ? धर्मविशेषादिति चेत्; सोऽपि कुतः स्यात् ? समाधिविशेषादिति चेत्, स एव समाधिविशेषस्तत्त्वज्ञानादन्यो वा ? तत्त्वज्ञानमेव स्थिरीभूतं समाधिरिति चेत्, तत्किमागमज्ञानं योगिज्ञानं वा ? यद्यागमज्ञानं दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानां कार्यकारणभावविषयं तदा न्यायदर्शनविदां तदस्तीति धर्मविशेषं जनयेत् । स च योगिज्ञानमिति तद्भव एव मुक्तिप्रसंगः । अथ योगिज्ञानं समाधिविशेषस्तदेवेतरेतराश्रयः स्यात्-सति योगिज्ञाने स्थिरीभूते समाधिविशेषे धर्मविशेषः, तस्माच्च यथोक्तः समाधिविशेष इति नैकस्यापि प्रसिद्धिः । यदि पुनस्तत्त्वज्ञानादन्य एव समाधिविशेषस्तदा स कोऽन्योऽन्यत्र सम्यक्चारित्रात् ?। सम्यक्चारित्रोपहितादेव तत्त्वज्ञानात्तत्त्वश्रद्धानाविनाभाविनः संसारकारणत्रयस्य परिक्षयः सिद्ध्येत्, न तत्त्वज्ञानादेव केवला-

द्‌तो न तत्सकलसंसारहेतुप्रतिपक्षः, नाऽपि वैराग्यं तत्प्रतिपक्षः कस्यचिन्मूर्खस्य तपस्विनः सत्यपि वैराग्ये मिथ्याज्ञानस्य सद्भावात् । तत्त्वज्ञानमेव वैराग्यं तस्मिन्सति मिथ्याज्ञानस्य संसारकारणस्य निवृत्तेस्तदेव संसारकारणप्रतिपक्षभूतमिति चेत्, किं पुनस्तत्परं तत्त्वज्ञानं । रागादिदोषरहितं तत्त्वज्ञानमिति चेत्, तर्हि सम्यक्चारित्रं तत्त्वज्ञानसहितं तत्त्वश्रद्धानाविनाभावि संसारकारणप्रतिद्वन्द्वि सिद्धं, न पुनर्वैराग्यमात्रं, एतेन तदुभयमात्रस्य संसारकारणप्रतिद्वन्द्वित्वमपास्तं तत्त्वश्रद्धानशून्यस्य तदुभयस्यापि संसारहेतुत्वदर्शनात् । सति श्रद्धाविशेषे तत्त्वज्ञानपूर्वकं वैराग्यं न पुनस्तत्त्वश्रद्धानशून्यं तस्य वैराग्याभासत्वादिति चेत्, तर्हि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमेव संसारकारणस्य मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्ररूपस्य त्रयात्मकस्य त्रयात्मकेनैव प्रतिद्वन्द्विना निवर्त्तयितुं शक्यत्वात् । मिथ्याज्ञानस्यैव विपरीतत्वाभिनिवेशविपरीताचरणकरणशक्तियुक्तस्यैकस्य संसारकारणत्वव्यवस्थायां तु तत्त्वज्ञानमेव तत्त्वश्रद्धानसम्यगाचरणशक्तियुक्तं तन्निवर्त्तकमिति युक्तमुत्पश्यामस्तत्त्वज्ञानस्य तत्त्वप्रकाशनशक्तिरूपत्वात्, तत्त्वश्रद्धानशक्तेः सम्यग्दर्शनत्वात्सम्यगाचरणशक्तेः सम्यक्चारित्रत्वात् त्रयात्मकत्वानतिक्रमात्, संसारकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य विपरीततत्त्वप्रकाशनविपरीताभिनिवेशविपरीताचरणशक्त्यात्मनस्तथात्मकत्वानतिक्रमवत् ।

ततः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एव परमात्मत्वस्य

श्रेयः समवतिष्ठते न ज्ञानमात्रादिरिति स एवाप्रतिनिधिः सिद्धः।

ततस्तत्रैव भक्तिं प्रार्थयमानः समन्तभद्रस्वामी न प्रेक्षापूर्वकारितां परित्यजतीति प्रतिपत्तव्यम्।

स्थेयाज्जातजयध्वजाप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः,
प्रध्वस्ताखिलदुर्नयद्विषदिभः सन्नीतिसामर्थ्यतः।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥

श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगै-
र्विद्यानंदबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

इति 'श्रीमद्विद्यानन्द्याचार्यकृतो' युक्त्यनुशासनालङ्कारः समाप्तः।

समाप्तोऽयं ग्रंथः